शक्तिपात

-: अर्थात् :-

॥ कुण्डलिनी महायोग ॥

स्वामी विष्णु तीर्थ

8164
K-47

शक्तिपात

अर्थात्

कुण्डलिनी महायोग

लेखक —

स्वामी विष्णुतीर्थ B.A., L.L.B.

सम्वत् २००७ वि०

मूल्य] [एक रुपया

माननीय लेखक

श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज
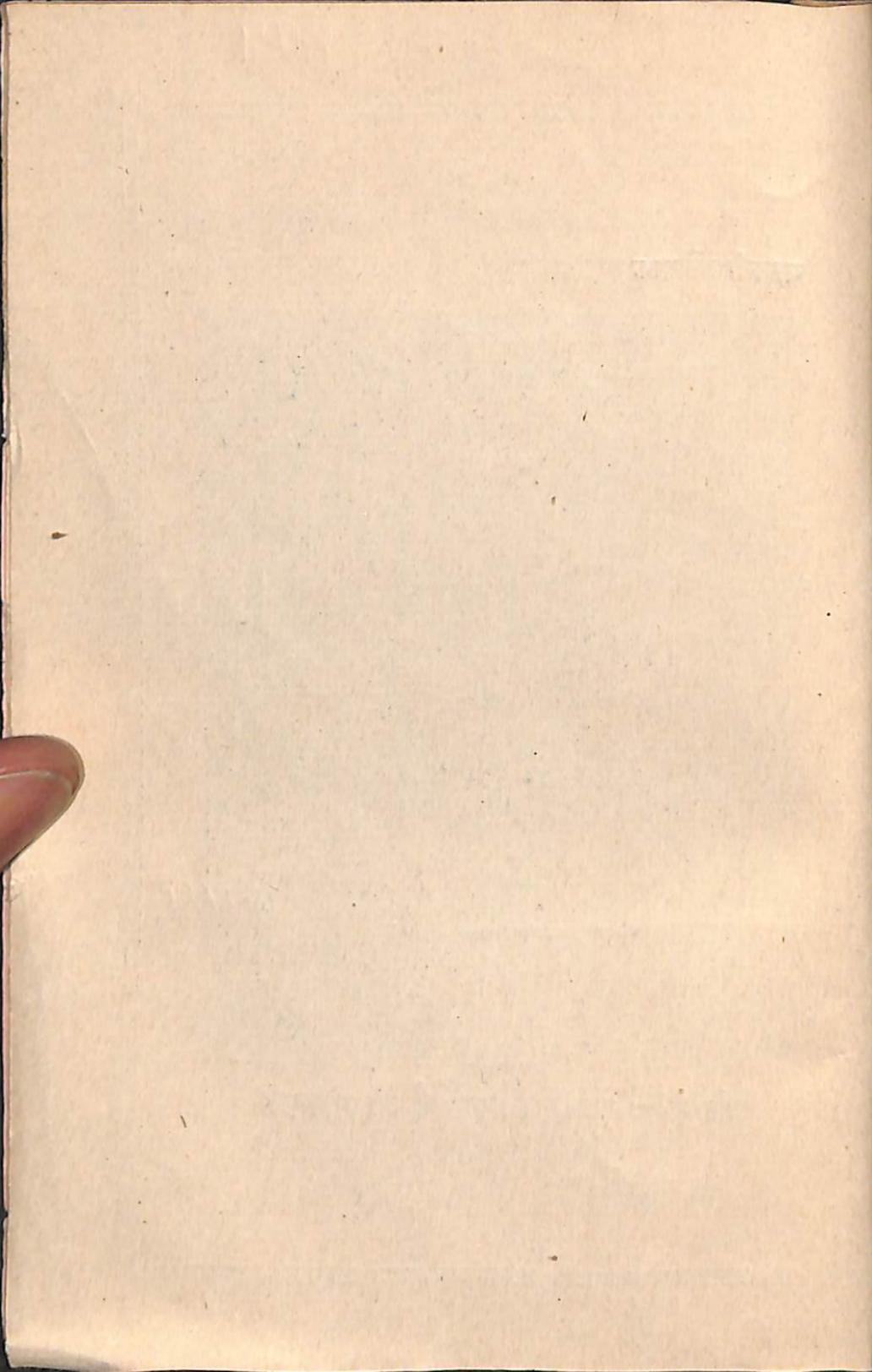
प्रथम संस्करण के

प्रकाशक का निवेदन
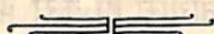
आजकल प्रायः यह धारणा हो गई है कि "योग का साधन" केवल उग्रतपस्या युक्त गृह त्यागी ही कर सकते हैं। परन्तु कोई भी भारतीय इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी योग की उच्चावस्था को प्राप्त किया था। योगीराज भगवान् कृष्ण का आदर्श जीवन इस बात का प्रमाण है। गृहस्थ आश्रम में रह कर भी उनके दिव्य और अलौकिक गुण कर्मों के कारण हम उन्हें साक्षात् ब्रह्म स्वीकार कर चुके हैं। फिर गृहस्थ आश्रम में किया हुआ साधन तो दोनों लोकों में कल्याणकारी होता है।

यद्यपि यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि योग साधन के लिये दृढ़ और सतत अभ्यास की आवश्यकता है और वह अभ्यास भी हमारे पूर्व-पथ प्रदर्शक भगवान् पतंजलि, वशिष्ठ, वेद व्यास आदि के केवल ग्रंथों का पाठ करके ही करना कठिन साध्य ही नहीं वरन् असम्भव है। क्योंकि इस मार्ग में अनेक विघ्न बाधाएं जीव को ब्रह्म तक पहुंचने में बाधक होकर, साधक को पथ-भ्रष्ट कर प्रलोभनों में फंसा देती हैं और वह अपने अंतिम ध्येय-मोक्ष की प्राप्ति से वंचित रह जाता है।

इसका एक मात्र सरल और सहज उपाय सद्‌गुरुओं की कृपा ही है। ऐसे सद्‌गुरु लोकोपकार की दृष्टि से सहज ही में सिद्ध होने वाले "सिद्ध महायोग" का लाभ अपने 'शक्तिपात' द्वारा जिज्ञासुओं को अनायास ही करा देते हैं।

स्मरण रहे कि 'शक्तिपात और मेस्मरीज्म' में आकाश पाताल का भेद है। जहां मेस्मरीज्म में कर्ता (हेप्नाटिस्ट या मेस्मराइज़र) मीडियम या सबजेक्ट (जिसके ऊपर प्रभाव डाला जाता है) को अपने प्रभाव से संज्ञाशून्य करके उससे अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है फिर ऐसे कार्य बहुधा स्वार्थसाधन के अतिरिक्त परमार्थ से कोसों दूर होते हैं और कर्त्ता का प्रभाव हटते ही मीडियम साधारण दशा से भी गिर जाता है। वह मेस्मराइज़र के प्रति घृणा करने लगता है, उस से भयभीत रहता है। वहां, शक्तिपात के द्वारा गुरु अपने शिष्य की आत्मशक्ति का विकास करता है, जिसके द्वारा शिष्य की सर्वतोमुखी उन्नति होने से उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है और "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" के अनुसार वह अध्यात्म-ज्ञान को प्राप्त करता है।

हम मृगतृष्णावत् जो आधुनिक पश्चिमीय भौतिक विज्ञान के पीछे पड़े हुए हैं, यह हमें उसी विनाश की ओर ले जायगा कि जिसका फल आज पश्चिमी जगत् भोग रहा है। यदि हम आत्मानन्द लाभ करना चाहते हैं, यदि हमें वास्तविक सुख भोग की इच्छा है, यदि हम अपनी सब प्रकार की उन्नति

चाहते हैं, यदि हमें अपने देश, जाति और संस्कृति की रक्षा करनी है तो हमें फिर एक बार 'योग-साधन' की ओर आना होगा।

चिन्ता न कीजिये सद्गुरुओं की कमी नहीं है, केवल हृदय में जिज्ञासा होनी चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक आपको उस सहज साध्य 'शक्तिपात' के विज्ञान को स्पष्ट करने के लिए ही परमदयालु श्री १०८ गुरु महाराज *पं० मुनिलालजी स्वामी ने लिख कर साधकों का परमोपकार किया है।

इसके प्रकाशन का सुअवसर भी स्वामी जी की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ है, परन्तु मैं अपना सौभाग्य तभी समझूंगा जब साधक जन इससे लाभ उठाकर मेरी इच्छा को सफल करेंगे।

नेमीचंद,

अम्बाह (गवालियर स्टेट)

—:o:—

*श्री स्वामी जी का पूर्व आश्रम का नाम।

द्वितीय संस्करण
की
❀ प्रस्तावना ❀

श्री स्वामी जी ने इस छोटी सी पुस्तक में शक्तिपात के गूढ़ विषय को सूत्राकार रूप देकर और उस पर सरल भाषा में भाष्य करके, इस विषय के जिज्ञासुओं पर बड़ा अनुग्रह किया है। प्रथम बार इसका प्रकाशन १० वर्ष पूर्व हुआ था, उस समय स्वामी जी ने संयास नहीं लिया था। अब इस द्वितीय संस्करण में स्वामी जी ने ग्रंथ को दुबारा देखकर कुछ संशोधन करने की कृपा की है। अब इस संस्करण को स्वामी जी के सन्यासी परिचय के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

—प्रकाशक

* हरि ॐ *

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

शिवं गंगाधरं तीर्थं, तीर्थं नारायणं प्रभुम्।
योगानन्दमहं वन्दे, शक्तिपातस्य देशिकान्॥

: शान्ति पाठ :

ॐ पूर्णमदः पूर्ण मिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

शक्तिपात एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा गुरु अपनी शक्ति का शिष्य में संचार करके उसकी आध्यात्मिक शक्ति को जगा देता है। आध्यात्मिक शक्ति और आधिभौतिक शक्ति में बड़ा भेद हैं, इसलिये आध्यात्मिक शक्ति का विज्ञान भी आधिभौतिक शक्तियों के विज्ञान से भिन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन भौतिक यंत्रों द्वारा नहीं किया गया है, इसलिये यह विज्ञान अभी तक गुप्त प्रायः ही हैं और जिन लोगों को इसका अनुभव भी है वे उसके

अनुभव अपने सचेतन शरीर में ही करते हैं और उसके दिव्य आनन्द में मस्त रहते हैं। इसलिये, अथवा उक्त विज्ञान के अति सूक्ष्म होने से, न समझने के कारण, वे लोग उससे होने वाले अनुभवों को वर्णन मात्र ही से संतोष मान लेना पर्याप्त समझ बैठते हैं। परन्तु पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों की अन्वेषण प्रणाली का आधुनिक युग इतने में ही संतोष मान लेना पर्याप्त नहीं समझता। इसमें संदेह नहीं कि आधिभौतिक विद्याओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वान्वेषण करने के लिये पश्चिम के विद्वान् करोड़ों रुपये खर्च करके बहुमूल्य यन्त्रों का निर्माण करके उनके द्वारा अतिसूक्ष्म विषयों को सिद्ध करने का यत्न करते हैं और गणित शास्त्र की सहायता से उनकी पुष्टि करते हैं। परन्तु अध्यात्म विद्या प्राप्त करने के लिये किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा रचित सजीव मनुष्य देह ही यन्त्र और प्रयोगशाला दोनों का काम देता है। यह हम नहीं कहते कि भावी युग के विद्वान् आध्यात्मिक शक्ति के भी नियम आधिभौतिक नियमों के सदृश खोज निकालें और उनको गणित शास्त्र के फारमूलों (सूत्रों) में बांध सकें। परन्तु आज यह सब असंभव सा प्रतीत होता है। हमारे महर्षियों की छोड़ी हुई विद्या-संपत्ति के कोष स्वरूप पातञ्जल दर्शन और अन्य योग के शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति का ध्येय मोक्ष बताया जाकर कुछ भौतिक सिद्धियों का वर्णन किया गया है। पातञ्जल दर्शन के विभूति पाद में कुछ उच्चकोटि की सिद्धियों को प्राप्त करने के साधन लिखे हैं और उन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार

करने से मालूम होता है कि उनमें से हरएक सूत्र में एक अति गहन वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है। परन्तु उनको समझने के लिये पहिले समाधि लगाने का अभ्यास होना अनिवार्य है।

अस्तु—

यहां पर शक्तिपात में गुरु अपने शिष्यों में जिस आध्यात्मिक शक्ति का संचार करता है, वह शक्ति क्या और कैसी है, उसका रूप क्या है और वह कहां और किस प्रकार उत्पन्न होती है, शिष्य में किस प्रकार गिराई जाती है और वह शरीर के बाहर कैसे आती जाती है, शिष्य के शरीर में प्रवेश करके क्या करती है, उसका विकास शरीर और मन में किस प्रकार होता है, और कैसे-कैसे अनुभव मनुष्य को होते हैं, उन अनुभवों के विकास का क्या कारण है और इन सब का अन्तिम परिणाम क्या होता है इत्यादि प्रश्नों पर हम इस पुस्तक में विचार करने की चेष्टा मात्र करते हैं ताकि अभ्यास करने वाले तथा अन्य विद्वानों का ध्यान इस विज्ञान की ओर आकर्षित हो।

आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं की खोज चाहे उनके जिज्ञासुओं को एक समान आनन्द देने वाली हो और भौतिक विज्ञान की उन्नति चाहे संसार में भौतिक उन्नति को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दे पर यह बात भी निश्चित ही है कि आधिभौतिक उन्नति का दुरुपयोग भी पूरा किया जाता है और कुछ स्वार्थी लोग अथवा जातियां जो भौतिक विद्या की उन्नति के लिये करोड़ों रुपये खर्च करके वैज्ञानिक विद्वानों को सहायता

देती हैं, उनके परिश्रम के फल का उपयोग सार्वजनिक लोक समाज के लाभार्थ नहीं वरन् अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में करती हैं, और उन वैज्ञानिक उन्नतियों का एक दुष्परिणाम जगत् का रुद्र संहार तक हो जाता है। आधुनिक दरिद्रता और नाना प्रकार के संतापों का भी कारण उक्त विद्याओं का दुरुपयोग ही है; परन्तु हम ऐसे युग में से निकल रहे हैं जिसमें मनुष्य अपनी त्रुटियों के कारण उक्त विद्याओं की सिद्धियों के लोभ में फंस कर उनसे लोक अपकार ही अधिक करते हैं। संभव है आगे आने वाली संतानें अपने पूर्वजों से लाभ उठाकर उनसे संसार का उपकार भी कर सकें। परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में ऐसा भय होने की आशंका नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक विद्या के जिज्ञासुओं के लाभार्थ आध्यात्मिक उन्नति के इस मुख्य साधन "शक्तिपात के विज्ञान" की व्याख्या नीचे करते हैं।

१—अथातः शक्तिपातं व्याख्यास्यामः।

अब यहां से शक्तिपात की व्याख्या हम करेंगे।

अथ शब्द का प्रयोग मंगलार्थ किया जाता है। जैसा कि कहा है:—

ॐ कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

अर्थः—'ॐकार' और 'अथ' शब्द दोनों पहिले ब्रह्माजी

के कण्ठ को भेदकर बाहर निकले थे, इसलिये ये दोनों माङ्गलिक शब्द हैं।

यहां पर 'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्यार्थ में किया गया गया है। यद्यपि, 'शक्ति पात' की दीक्षा ग्रहण करने के लिये किसी पूर्व साधन की अथवा किसी शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। जिसपर गुरु अनुग्रह करते हैं उसी को उसकी प्राप्ति हो सकती है, चाहे शिष्य शास्त्रों का विद्वान् हो, चाहे कुछ भी न पढ़ा हो, उसने योगानुष्ठान किया हो अथवा न किया हो, बिना पूर्वानुष्ठित तय्यारी की अपेक्षा के गुरु के 'शक्तिपात' रूप अनुग्रह से शिष्य की शक्ति का उद्बोधन हो जाता है परन्तु यहां 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करने का तात्पर्य यह है कि यह कोई स्वतन्त्र विज्ञान आधुनिक भौतिक विज्ञानों के अन्वेषणों के सदृश पूर्वाचार्यों की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा नहीं है। शक्तिपात एक साधन है, जिसके द्वारा अधिकारी शिष्य में योग, भक्ति एवं ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का आवेश गुरु के अनुग्रह से हठात् जागृत किया जा सकता है। भगवान् महर्षि पातञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिये निम्न आठ साधन कहे हैं और उन आठों के अन्तर्गत ही वृत्ति निरोध के समस्त साधनों का समावेश है। तदनुसार यह साधन भी उक्त आठ साधनों के अन्तर्गत ही है, जैसा कि नीचे बताया जायगा। इस दृष्टि से पातञ्जल दर्शन की तरह यहां भी 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकरण अर्थ में समझा जाना उचित प्रतीत

होता है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि शक्तिपात दीक्षा का अधिकारी बनने के लिये पूर्वार्जित सत्कर्मों अथवा अन्तःकरण शुद्धि के विभिन्न साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है। देखें सूत्र (२, ४)।

पातञ्जल दर्शन में बताये हुए चित्त वृत्तिनिरोध के आठ उपाय ये हैंः—

(१) अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः— उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है। इन दोनों की सर्वोपरिगणना है, क्योंकि अभ्यास के बिना कोई साधन नहीं हो सकता और अभ्यास को दृढ़ रखने के लिये सांसारिक विषयों से और स्वर्गादि अथवा योग की सिद्धियों के प्रलोभनों से वैराग्य का धारा प्रवाह सदा आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ भोगों का त्याग नहीं है क्योंकि सुख दुःखों को भोगने के लिये ही जन्म होता है, किन्तु वैराग्य से अनासक्ति का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये। जो मनुष्य वीतराग द्वेष होकर संसार के सब ही विषयों का धर्मयुक्त उपभोग करते हैं वे विरक्त ही हैं।

(२) ईश्वर प्रणिधानाद्वाः—अथवा ईश्वर प्रणिधान से भी वृत्तियों का निरोध होता है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वरार्पण अथवा ईश्वर शरणागति समझना चाहिये। पर प्रेमरूपा भक्ति भी इसका अंग कही जा सकती है। क्योंकि समर्पण अथवा शरणागति में अनन्यता का भाव ओत प्रोत है।

(३) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य--अथवा प्राण के रेचन और विधारण द्वारा भी निरोध होता है।

(४) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबंधिनि—अथवा मन की स्थिति को बाँधने वाली (दिव्यगंध, दिव्यरस, दिव्यरूप, दिव्यस्पर्श और दिव्यशब्द) विषयवती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, क्योंकि सांसारिक विषयों से चित्त में स्वभावतः उपरति होकर इन्द्रियां अन्तमु ख होने लगती हैं।

(५) विशोका वा ज्योतिष्मती--अथवा विशोका नाम की ज्योतियों के दर्शन होने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

(६) वीत राग विषयं वा चित्तम्--अथवा ऐसे चित्त का आलंबन लेने से जो साधन सम्पन्न होकर वीतराग हो चुका है। यहां पर ऐसे गुरुजनों के चित्त का आलंबन लेने का उपदेश किया गया है जो राग-द्वेष से मुक्त हो गये हैं। उन के चित्त का आलंबन किस प्रकार लिया जा सकता है, यह बात विचारणीय है। बहुतों का मत है कि उनके फोटो आदि के ध्यान से अथवा स्मरण मात्र से उनके चित्त का आलंबन मिल जाता है। यह बात सर्वथा तो निर्मूल नहीं है क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ऐसे महात्माओं के ध्यान अथवा स्मरण से लाभ होता है। परन्तु यथेष्ट लाभ की संभावना इस प्रकार हर किसी को नहीं। दूसरी रीति, जिससे उनके चित्त का आलंबन मिलता है, वह

'शक्तिपात' है क्योंकि शक्तिपात उनके अनुग्रह से ही हुआ करता है और इस प्रकार पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है।

(७) स्वप्न निद्रा ज्ञानालंबनं वा—अथवा स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का, अथवा स्वप्न और निद्रा में आये हुये ज्ञान का आलंबन लेने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

(८) यथाभिमतद्ध्यानाद्वा--अथवा जैसा ध्यान किसी को अच्छा लगे, उसी ध्यान से वृत्तियों का निरोध होता है ।

हर एक प्रकार के साधन में चित्त की प्रसन्नता अति आवश्यक है। इसलिये सदा चित्त प्रसन्न रखने का भी उपाय और उपदेश साथ-साथ दिया गया है कि सुखी को देखकर मित्रता, दुखी को देख कर दया, पुण्यात्मा को देख कर प्रसन्नता और पापी को देख कर उपेक्षा का भाव लाने से चित्त में आध्यात्मिक प्रसाद आता है।

यद्यपि शक्तिपात द्वारा उपरोक्त सब ही साधन स्वयं आते हैं परन्तु विशेष रूप से इस विज्ञान का संबंध "वीतराग विषयं वा चित्तम्" से ही है।

शक्तिपात द्वारा योग एवं भक्ति के ही दिव्यावेश जागृत नहीं होते वरन् जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान भी शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि कहा है—

तत्व ज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम् ॥

तच्च देव प्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

(ब्रह्मणिका)

अर्थ—माया का बाध तत्व ज्ञान से होता है, अन्य कर्म से नहीं। जो वेदान्त वाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीव के एकत्व की अनुभूति दिलाता है। वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से और गुरु के साक्षात् निरीक्षण से अधिकारियों में महावाक्य के उपदेश द्वारा शक्तिपात करने से उदय होता है।

जिस शक्ति का उल्लेख प्रथम सूत्र में किया गया है वह कैसी है ? प्रकृति से उत्पन्न होने वाली विद्युदादि के सदृश है अथवा भिन्न प्रकार की; इस शंका का उत्तर नीचे दिया जाता है।

२. शक्तिर्ह्यात्मनः श्रुतेः ।

यह शक्ति आत्मा से ही है, श्रुति का प्रमाण है। वेदों में इस शक्ति का स्थान स्थान पर वर्णन मिलता है। यहां पर हम अथर्व संहिता के एकादश काण्ड में आठवें सूक्त के १६-१७ मन्त्रों द्वारा स्पष्ट रूप से दिये हुये वर्णन का उल्लेख करते हैं।

यत्तच्छरीरे मशयत् संधया संहितं महत् । येनेदमद्य रोचेत को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तद जानाद् वधूः सती । ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥

अर्थ—यह बड़ा शरीर 'संधा' (जोड़ने वाली) नाम की शक्ति से जुड़ा हुआ भी निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। जिसके कारण यह अब अच्छा लगता है वह कौन है? जिसने इसमें प्रकाश का आभरण किया है। ऐसा सब देवताओं ने जानने की प्रार्थना की, तब उस धारण करने वाली वधू सती ने बताया कि ईश्वरी परमेश्वर की (शक्ति) जो उसकी जाया (पत्नी) है उसने इस शरीर में वर्ण अर्थात चेतना रूप प्रकाश का आभरण किया है।

शक्तियां दो प्रकार से उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं (१) यन्त्रों द्वारा, जैसे भाप के दबाव से बनाई हुई रेलवे एंजिन आदि की शक्ति अथवा बैटरी या डायनुमो जैसे यन्त्रों से उत्पन्न की हुई विद्युदादि की शक्ति (२) मनुष्यों अथवा पशुओं के शरीर के बल से उत्पन्न हुई शक्ति। जो कार्य यंत्रों द्वारा किया जाता है वह कार्य छोटे पैमाने पर बैल, भैंस, घोड़े आदि पशुओं के शारीरिक बल अथवा मनुष्य के शारीरिक बल से भी वैसे ही किया जा सकता है, और दोनों का कार्य एक सदृश ही प्रतीत होता है। क्या शक्तिपात में उल्लिखित शक्ति भी इसी प्रकार की शक्ति है? यद्यपि मनुष्य और पशुओं के शारीरिक बल से

उत्पन्न शक्ति वास्तव में आत्मा से ही उदित है अथवा आत्मा ही उसका कारण है परन्तु इसका कार्य अचेतन यंत्रों से उत्पन्न शक्तियों के समान ही जड़वत् होता है। इसलिए दोनों में कोई भेद नहीं दीख पड़ता। दोनों अचेतनवत् कार्य करती हैं। इस शंका का समाधान आगे किया जाता है।

३ चितिर्वा।

अथवा वह चिति शक्ति ही है।

चिति का तात्पर्य यह है कि शक्ति चेतना से भिन्न नहीं। इसलिये वह चेतन शक्ति है न कि अचेतन।

४ ज्ञानवती च।

और ज्ञानवती भी है।

५ प्राणोवा श्रुतेः।

अथवा उसको प्राण भी कहते हैं, श्रुति का प्रमाण है।

वेदों ने संहिताओं; ब्राह्मण, और उपनिषदों में सर्वत्र प्राणों की उपासना करने का विधान किया है और प्राण के स्वरूप, स्थान और उद्गम का भी बार बार वर्णन किया है। वेदोक्त प्राण श्वास और प्रश्वास की गति से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है और वह आत्मा से उत्पन्न होने पर भी अथवा आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप होने पर भी व्यक्त शक्ति का रूप धारण किये हुये है जैसा कि नीचे दी हुई श्रुतियों से स्पष्ट है।

आत्मन एष प्राणो जायते, मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे।
(प्रश्न ३, ३)

अर्थ—आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, मन के सहारे से यह शरीर में आता है।

एतस्मात् जायते प्राणः। (मुण्डक २-१-३)

अर्थ—प्राण ब्रह्म से उत्पन्न होता है।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसं-विशंति प्राणम् भ्युज्जिहते। (छां १।११।५)

निश्चयपूर्वक ये सब सृष्टि प्राण में ही लय होती हैं और प्राण से ही उत्पन्न होती है।

या प्राणेन संभवत्यदिति देवतामयी, गुहां प्रविष्यतिष्टंती या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत्। (कठ ४।७)

अर्थ—देवतामयी जो 'अदिति' शक्ति प्राण के द्वारा उत्पन्न होती है, हृदयाकाश रूपी गुफा में प्रवेश करके वहां ठहरी हुई भूतों के द्वारा व्यक्त होती है, निश्चय से यह ब्रह्म ही है।

प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः (छा० ६।८।२)

हे सौम्य, निश्चय से मन प्राण के बंधन में है।

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः।

(कौषतिकी ब्राह्मणोपनिषत् ३।८)

वह आनन्द स्वरूप, अजर, अमर, प्रज्ञात्मा यह प्राण ही है।

ब्रह्म सूत्रों में--अतएव प्राणः (१।१।२३) सूत्र द्वारा कहा है कि यह प्राण श्वास प्रश्वास गति स्वरूप वायु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है।

आत्मा का अर्थ शुद्ध स्वरूप आत्मा अथवा ब्रह्म ही समझना चाहिये। पिण्ड में शुद्ध आत्मा और ब्रह्मांड में ब्रह्म अथवा दोनों जगह ब्रह्म ही कह सकते हैं। जो लोग जीव ब्रह्म की एकता नहीं मानते उनको आत्मा का अर्थ बंधन में पड़े हुवे अहंकारादि उपाधियों से युक्त जीव नहीं मानना चाहिये वरन् अन्तर्यामी परमात्मा ही समझना चाहिये। क्योंकि परमात्म-शक्ति ही मोक्ष साधन करा सकती।

शक्ति, शक्तिमान् से भिन्न नहीं, न उससे पृथक् अन्य वस्तु है। हम शक्ति के भौतिक और चेतन दो रूप देखते हैं। प्रकृति के सब कार्यों को चलाने के लिए अनन्तशक्ति भण्डार प्रकृति में दीख पड़ता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के अणु अणु में इतनी शक्ति भरी हुई है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि उसका परिमाण जांचने में अभी तक असमर्थ ही रही है। प्रकृति के साधारण से कार्यों में अनन्त शक्ति का उत्पन्न होना और लय होना देखा जाता है। साधारण सी बादल की गरजना में इतनी विद्युच्छक्ति उत्पन्न होकर लय हो जाती है जितनी बड़े से बड़े विद्युद् यंत्रालय नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसा ही हाल चेतन शक्ति का भी है। हाथी, सिंह आदि पशुओं में कितनी शक्ति खर्च होती रहती है। दोनों प्रकार

की चेतन अचेतन शक्तियों का शक्तिमान् कौन है ? हम ईश्वर को यदि सर्व शक्तिमान् मानते हैं तो यह मानना भी अनुचित नहीं कि जड़ चेतनमय जगत् में जो कुछ व्यापार घटित होते हैं वे सब उस शक्तिमान् की शक्ति के ही कार्य हैं। यदि ऐसा माना जाय तो क्या प्रकृति की संचालक इन शक्तियों को ही शक्तिमान् समझ लिया जाय, अथवा शक्तिमान् शक्ति से भिन्न ही है। इसका उत्तर समझाने के लिये हम एक दृष्टांत देकर विचार करते हैं। थोड़ी देर के लिये यह मान लें कि मनुष्य की शक्ति सर्व शक्तिमान् से भिन्न शरीरस्थ आत्मा की ही है। हम देखते हैं कि मनुष्य की शक्ति बाल, युवा, वृद्ध, स्वस्थ तथा रुग्ण अवस्था भेद से न्यूनाधिक होती रहती है। क्या इस शक्ति को उत्पन्न करने वाला आत्मा कभी कम और कभी अधिक शक्ति वाला हो जाता है। फिर वही आत्मा जन्मान्तर में कीट आदि के शरीरों को त्याग कर पशु और मनुष्य शरीरों को धारण करता है। तो क्या आत्मा की शक्ति में परिवर्त्तन हो जाता है ? यदि ऐसा माना जाय तो आत्मा विकारी और परिवर्तनशील मानना पड़ेगा परन्तु यह सिद्धांत के विरुद्ध बात है।

इसलिये यह सिद्ध होता है कि आत्मा, जो स्वयं असंग है शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार की उपाधि के कारण न्यूनाधिक शक्ति वाला प्रतीत होता है। बालक के शरीर में कम बल होता है, युवा अवस्था में अधिक, इसका कारण आत्मा का विकार नहीं है वरन् शरीर रूपी उपाधि का विकार है। मनुष्य अपने बल का अनुमान नहीं कर सकता और साहस, धैर्य और हिम्मत

से अपने बल की वृद्धि कर लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा निर्विकार होते हुये भी अहंकार द्वारा शरीरादि उपाधियों से शक्ति की व्यक्तता प्रकट करता रहता है। वास्तव में आत्मा अनन्त शक्तिमान् होते हुये भी निष्क्रिय रहता है और उसकी शक्ति उसमें सदा एक समान अव्यक्त रहती है। परन्तु उसके प्रकाश के कारण शरीरादिक उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता होती रहती है। आत्मा एक चुम्बक पत्थर Magnet के सदृश है जिसके वातावरण Magnet field में लोहे के टुकड़े शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। परन्तु Magnetic field और लोहे के टुकड़ों में नृत्य करने वाली शक्ति दो वस्तु नहीं। इसी प्रकार सर्व शक्तिमान् ब्रह्म और प्रकृति की समस्त जड़ चेतनमय शक्तियों को समझना चाहिये। सांख्य के मतानुसार प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ५ तन्मात्राएं, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन, अहंकार, महत्तत्व और अव्यक्त २४ तत्व हैं। ये सब परमात्मशक्ति के कारण जड़ चेतन मय शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। प्रथम पांच तत्वों में शक्ति की व्यक्तता अचेतनवत् है और शेष १८ तत्वों में चेतनवत्। अव्यक्त में बीज की तरह प्रसुप्त (in potential form) रहती है अन्य तत्व उसके क्रियात्मक रूप (kinetic forms) हैं। अव्यक्त प्रकृति है (potential form), महत अहंकार, पंचतन्मात्रायें ये सप्त प्रकृति विकृति स्वरूप हैं (partially potential and kinetic), मन, पांच ज्ञानात्मक और पांच क्रियात्मक इन्द्रियां, ५ महाभूत ये १६ विकृति स्वरूप हैं (kinetic), पुरुष न प्रकृति

हैं न विकृति है (ne'ther potential nor kinetic)।

इसलिये शक्ति ब्रह्म ही है और उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य यह ही है कि वह ब्रह्म ही प्राण है। यद्यपि शरीर में प्राण के पांच क्रियात्मक रूप, प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान प्रतीत होते हैं और बाहर सूर्यशक्ति प्राण, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपान, आकाश (Ether) समान वायु व्यान और अग्नि उदान हैं। ब्रह्म रूपी चुम्बक magnet के चुम्बक क्षेत्र magnetic field को प्राण कहते हैं वह उपाधियों के आधार पर नाना रूप से चेतन अचेतन शक्ति की व्यक्तता का कारण है। परन्तु चुम्बक Magnet और चुम्बक क्षेत्र Magnetic field स्थूल और सूक्ष्म होने के कारण अलग अलग मालूम होते हैं। ब्रह्म तो सर्व व्यापी होने के कारण सत् चित् आनन्द स्वरूप चुम्बक क्षेत्र Magnetic field ही है जिसमें कभी कोई विकार नहीं होता, सदा अव्यय और प्रशान्त रहता है। वह न कभी प्रसुप्त Potential रूप धारण करता है न क्रियात्मक Kinetic, प्रकृति उसकी माया है। जो शक्ति पांच महाभूतों के आधार से व्यक्तता में आती है उसको हम जड़शक्ति कहते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के आधार से जिसकी व्यक्तता है वह चेतन कहलाती है, परन्तु महत तत्व और उससे उत्पन्न हुये अहंकार के आधार से जो व्यक्त होती है वह ही आध्यात्मिक शक्ति है, जिसका प्रयोग शक्तिपात में होता है। कहा है:—

'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निसृतं' (कठ)

अर्थात् जो कुछ यह जगत् है वह सब ब्रह्म से निसृत प्राण का ही स्पन्दन मात्र है।

६ सैव कुण्डलिनी।

वह ही कुण्डलिनी है। मनुष्यों में उक्त आध्यात्मिक शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी का आकार सर्पाकार माना गया है और सर्पाकार ही ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला शेष माना जाता है। इसलिये ब्रह्माण्ड और पिंड को धारण करने वाली वह शक्ति एक ही है।

कुण्डल्येव भवेच्छक्ति स्तां तु संचालयेद्बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यंशक्तिचालनमुच्यते॥
—(योग कुण्डल्युपनिषत्)

अर्थ—कुण्डलिनी ही शक्ति है उसको बुद्धिमान् उसके स्थान मूलाधार से भ्रूमध्य तक संचालित करे, यही शक्तिचालन कहलाता है।

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति, गुणत्रय प्रसूतिका॥
महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी।
जीव शक्तिः कुण्डलाख्या, प्राणकाराथ तेजसी॥

अर्थ—इस शक्ति को स्वर्णवत् कान्तियुक्त सत्वरजतम तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली विष्णु की निर्भया शक्ति जानना

चाहिये। यह परब्रह्म स्वरूपिणी शक्ति महा कुण्डलिनी भी कही जाती है। यह ही जीवरूपिणी शक्ति है, वह कुण्डलों वाली प्राणाकार तेजोमयी है।

शक्तिपात द्वारा शक्ति चालन उसी क्षण होने लगता है प्रथम सूत्र में शक्तिपात शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि केवल शक्ति का। अर्थात् यहां पर शक्ति के विज्ञान की व्याख्या नहीं वरन् उसके पात की व्याख्या की जाने की प्रतिज्ञा है। इसलिये यह शंका होती है कि शक्ति का पात किस पर होता है, उत्तर अगले सूत्र में है कि—

७ तत्पातः शिष्येषु।

उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है।

सूत्र में शिष्य कहने से स्पष्ट है कि गुरुजन अपने शिष्य में आध्यात्मिकशक्ति का पात करते हैं। गुरु शिष्य का सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि गुरु अपनी विद्या से शिष्य की उन्नति करना चाहता है। इसलिये इस सूत्रसे यह भाव भी स्पष्ट निकलता है कि शक्तिपात शिष्यों के कल्याण के लिये किया जाता है। जैसे लौकिक गुरु शिष्यों की मानसिक उन्नति के लिये विद्या पढ़ाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये शक्तिपात किया जता है।

८ ततः शक्त्युद्बोधनम्।

उससे शक्ति का उद्बोधन होता है।

अर्थात् शिष्य की शक्ति गुरु द्वारा शक्तिपात होने से जाग उठती है, जिसका अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति सोई हुई है। जागने पर उसके स्वरूप का अनुभव होने लगता है। शिष्य की शक्ति को जगा देने का ही नाम शक्तिपात है जैसा कि शक्तिरहस्य में कहा है:—

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथं ?
उर्द्धादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादि पाशबद्धेषु संवृता ।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ॥

अर्थ—वह परमा शक्ति सर्व व्यापिनी है। फिर उसे पतिता अर्थात् वह गिरती है ऐसा क्यों कहते हैं ? एक देशीय मूर्तिमान् जो सर्व व्यापक नहीं है उसी की ऊपर से नीचे गिरने की गति को पात कह सकते हैं। सत्य ! वह सर्व व्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है, किन्तु कर्मों के मल के पाश से आवृत रहती है और दोषों के पक जाने पर वह अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है, तब उसे पतिता (शक्ति पात) कहते हैं।

६ प्राणोत्थानं वा।

अथवा यों कहें कि प्राण का उत्थान हो जाता है। प्राण शक्ति जो मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को धारण किये हुए हैं वह शक्ति के जागने पर ऊर्द्धगामी होने लगती है।

१० ततोमहायोगसिद्धिः ।

उससे (शक्ति के जागने से) महायोग की सिद्धि होती है।

११ योगः समाधिरिति भगवान् वेद व्यासः ।

योग समाधि ही है ऐसा भगवान् वेद व्यास ने कहा है।

समाधि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दो प्रकार की होती है। जिसमें प्रज्ञा बनी रहे वह समाधि संप्रज्ञात और जब प्रज्ञा का सर्वथा निरोध हो जाय तब असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। संप्रज्ञात को सबीज और असंप्रज्ञात को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। संप्रज्ञात के ६ अवान्तर भेद हैं—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्द और सास्मिता।

१२ चित्तवृत्तिनिरोध इतिभगवान् पतंजलिः ।

चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं ऐसा भगवान् पतञ्जलि का मत है।

पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः', अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं।

उक्त सूत्र में निरोध के पहिले कोई विशेषण नहीं लगाया गया है कि कितने निरोध को योग कहते हैं। इसलिये थोड़े निरोध को भी योग कह सकते हैं और सर्वथा निरोध को भी योग कहते हैं। योगानुष्ठान के उन्होंने आठ अङ्ग बताये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। इसका अर्थ यह है कि वृत्तियों का निरोध थोड़ा बहुत

तो 'यम' से ही होने लगता है और सर्वथा निरोध निर्बीज समाधि में होता है। चित्त तमस् Inertia रजस् motion और सत्व light तीनों गुणों से युक्त रहता है। इनमें से कोई एक प्रधान रूप से और अन्य दोनों उससे दबे हुये रहा करते हैं। तमोगुण से मूढ़, रजोगुण से क्षिप्त, रजसत्व से विक्षिप्त, सत्व से एकाग्र और तीनों के न्यूनाधिक निरोध से निरुद्धावस्था की भिन्न भिन्न भूमिकाएं आती हैं। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थायें योगियों को ही होती हैं सर्व साधारण को नहीं।

वृत्तियां पांच प्रकार की हैं जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पांचों क्लेशों से युक्त होती हैं और इनसे रहित भी होती हैं। अनित्य में नित्यता की, अपवित्रता में पवित्रता की, दुःख में सुख की और अनात्म वस्तुओं में आत्मा की भावना रहना 'अविद्या' है। "मैं हूं" यह भाव 'अस्मिता' कहलाता है। विषयों में आसक्ति को 'राग' और घृणा को 'द्वेष' कहते हैं। सदा जीने की इच्छा अथवा मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहते हैं। बंधन में पड़े हुये मनुष्यों की वृत्तियां इन पांचों से युक्त होती हैं और जीवन-मुक्त महात्माओं की वृत्तियां इन पांचों से रहित होती हैं। पांच प्रकार की वृत्तियां नीचे दी जाती हैं।

(१) **प्रमाण** की वृत्तियां तीन भेद वाली होती हैं प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण। देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने की पांच प्रत्यक्ष ज्ञान की वृत्तियां हैं।

जो ज्ञान इन पांचों प्रत्यक्ष प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसका मन बुद्धि द्वारा अनुमान किया जाता है। जिस बात का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से नहीं होता वह अनुभवी मनुष्यों अथवा शास्त्रों के वाक्यों से होता है उसको आगम प्रमाण कहते हैं।

(२) दूसरे प्रकार की **विपर्यय** वृत्ति है—अर्थात् असद्रूप मिथ्या ज्ञान, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रान्तिमय ज्ञान।

(३) **विकल्प ज्ञान**—तीसरे प्रकार की वृत्ति है। जिसमें शाब्दिक ज्ञान होता है तदनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। जैसे आत्मा की चेतन शक्ति, ऐसा कहने से शब्दों का ज्ञान होता है वास्तव में आत्मा से भिन्न कोई चेतन शक्ति नहीं है, दोनों एक ही हैं। परन्तु शब्दों से दोनों का अलग अलग होने का ज्ञान विकल्प मात्र है।

(४) **निद्रा**—सुषुप्ति की अवस्था भी चित्त की एक प्रकार की वृत्ति ही है जिसमें सब आलम्बनों का अभाव हो जाता है।

(५) **स्मृतिः**—पूर्व काल में सुने और अनुभव किये हुए विषयों का याद आना स्मृति है।

उपरोक्त पांचों प्रकार की वृत्तियों के अन्तर्गत जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें हैं। स्वप्न में स्मृति की वृत्ति के आधीन तमोगुण से ढकी हुई इन्द्रियां, मन और बुद्धि के संस्कार काम करने लगते हैं।

चित्त को एक जलाशय के सदृश मान लिया जाय, जिसपर आकाश, बादल, वृक्ष इत्यादि का प्रतिबिम्ब दीख रहा हो तो जैसे उक्त प्रतिबिम्बों के कारण जलाशय की तली नहीं दीखती परन्तु प्रतिबिम्बों के ओझल होने से तली दीखने लगती है अथवा जल में लहरें उठने पर तली का प्रकाश नहीं दीख सकता और लहरों के शान्त होने पर वह दीखने लगता है। ठीक उसी तरह तली रूपी आत्मा वृत्तियों के कारण नहीं जान पड़ता। वृत्तियां शांत हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। चित्त रूपी जल में बाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब सदा पड़ते रहते हैं अथवा स्मृति के द्वारा संकल्प विकल्प रूपी तरंगें उठा करती हैं अथवा निद्रा के तमोगुण रूपी मिश्रण से वह गदला हो जाता है इसलिये आत्म स्थिति नहीं होने पाती। जब पांचों प्रकार की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है अन्यथा नहीं।

आत्मदर्शन होने से वृत्तियों के ज्ञान का मिथ्यापन और आत्मज्ञान की सत्यता चित्त पर चमकने लगती है और जगत् के बंधन का मिथ्या विपर्य्य ज्ञान निवृत्त हो जाता है जैसे रस्सी का ज्ञान होने के पश्चात् उसमें से सांप की भ्रांति दूर हो जाया करती है।

उपरोक्त वृत्तियों के निरोध के लिये शक्तिपात किस प्रकार सहायक होता है यह कुछ प्रथम सूत्र में बताया जा चुका है। अब नीचे यह दिखाया जायगा कि वृत्तियों का निरोध प्राण के

वश में होने के कारण सुगमतापूर्वक हो जाता है। वृत्तियां प्राण के आधीन हैं इसका क्या प्रमाण है सो कहते हैं—

१३ प्राणस्येदं वशे सर्वमिति श्रुतेः ।

यह सब प्राण के वश में है, श्रुति का प्रमाण है।

ॐ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्तसर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व वेद प्राण सूक्त मं० १)

अर्थ—प्राण को नमस्कार है जिसके वश में हैं यह सब जो हुआ हैं। सब का ईश्वर, जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है।

ॐ याते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि, या च मनसि सतता शिवां तां कुरूमोत्क्रमीः। प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्, मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहिनः

(प्रश्नोपनिषत् द्वितीय प्रश्न १२ । १३)

अर्थ—जो तेरी तनू (स्वरूप) वाणी में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र में, जो चक्षु में और जो मन में फैली हुई है उसको तू हमारे लिये कल्याण स्वरूप रख, उत्क्रमण मत कर। इस लोक में यह सब प्राण के वश में है और जो कुछ तीसरे लोक (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित है। तू पुत्रों की माता के सदृश हमारी रक्षा कर और हमको श्री (तेज) और प्रज्ञा दे।

१४ उभयोः परस्परं निरोधः।

दोनों प्राण और चित्त वृत्तियों का परस्पर निरोध होता है। प्राण के निरोध से वृति निरोध और वृत्ति निरोध से प्राण निरोध होता है और इसी प्रकार से दोनों का निरोध बढ़ता जाता है। पहिले प्राण का निरोध करना चाहिये क्योंकि स्वतन्त्र रूप से वृत्ति निरोध कठिन साध्य है।

१५ महान् किं ? विशेषत्वाच्छक्त्युद्बोधने तत्सिद्धेः।

महान् क्यों ? विशेषता के कारण, शक्ति के उद्बोधन से उसकी सिद्धि होने से।

दशवें सूत्र में योग के पहिले महान् विशेषण का प्रयोग क्यों किया गया है ? क्या महायोग, व्यासजी अथवा पतञ्जलि भगवान् के योग से भिन्न कोई अन्य योग है, इस शंका का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि योग तो चित्त वृत्ति निरोध रूप वह ही है दूसरा नहीं हो सकता। परन्तु महान् विशेषण का प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि उसकी सिद्धि शक्ति के जागने से तुरन्त होती है, अन्यथा श्रद्धा वीर्य सहित यत्नपूर्वक दीर्घ काल निरंतर सत्कार से अभ्यास करने पर वृत्तिनिरोध की उपलब्धि कही गई है। इसलिये जो योग परिश्रम साध्य है वह गुरु कृपा से शीघ्र प्राप्त होता है।

१६ हठ मंत्र लयराजयोगान्तर्भूमिकत्वाच्च श्रुतेः।

और हठ योग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग, का अन्तर्भू-

मिकत्व होने के कारण भी महान् कहा गया है, श्रुति का प्रमाण है।

शक्ति जागने के पश्चात् हठादि चारों योगों का अन्तर्भूमिका रूप से स्वतः सिद्ध विकास उत्तरोत्तर होता है, यह भी विशेषता है। इसमें नीचे दी गई श्रुति का प्रमाण है।

मन्त्रो लयो हठोराजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एकएव चतुर्धाऽयं महा योगोऽभिधीयते॥

(योग शिखोपनिषत् १३०)

अर्थ—मंत्र, लय, हठ, राजयोग क्रम से अन्तर्भूमिकायें हैं इसलिये एक ही वह योग चतुर्धा होने से महायोग कहलाता है।

१७ आसन प्राणायाम बंधमुद्रादयोहठः।

आसन, प्राणायाम, बंध मुद्रादि हठ योग हैं।

यहां पर प्राणायाम से श्वास की पूरक, रेचक, कुंभक क्रियाएें ली गई हैं। बंध और मुद्रायें बहुत हैं, उनमें १० प्रधान हैं मूलबंध, उड्डयानबंध, जालंधर बंध, महाबंध, महावेध, महामुद्रा, विपरीतकरणी, बज्रौली, खेचरी और शक्तिचालन। आसन प्रत्येक योनि के आधार पर ८४ लाख कहे हैं परन्तु ८४ मुख्य हैं पातञ्जल दर्शन के अनुसार 'स्थिरं सुखं आसनम्' कहा गया है परन्तु सांख्य ने यह भी नियम नहीं माना कि स्थिरता और सुख से ही स्थिति हो, शक्ति जागकर क्रियावती होती है तब किसी किसी को नाना प्रकार के आसन, कुम्भक और मुद्रायें देखने में आती हैं।

१८ ततो नाड़ी शुद्धिः ।

उससे नाड़ी शुद्धि होती है

नाड़ियों से बात नाड़ियों या स्नायुओं (nerves) का अभिप्राय है। नाड़ियाँ प्राण शक्ति के प्रवाह के लिये उसी प्रकार कार्य करती हैं जैसे बिजली के प्रवाह के लिये तार। साधारण मनुष्यों की नाड़ियां मलाकुल होती हैं और उनमें से प्राण का प्रवाह सुगम नहीं होता। हठ योग की क्रियायें उनके मल को निकाल देती हैं।

१९ स्वाध्ययेश्वरप्रणिधाने मन्त्रयोगः ।

स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान मंत्रयोग है।

पातञ्जल दर्शन में प्रणव के जप और उसके अर्थ की भावना को स्वाध्याय कहा है। स्वाध्याय में मोक्षप्रद मंत्रों का जप और शास्त्रों का श्रवण, पठन, मनन भी लिखा गया है। स्वाध्याय से योग की सिद्धि होती है जैसा कि वेद व्यासजी ने कहा है:—

स्वाध्यायाद्योगेमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योग प्राप्त होता है, योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं।

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वर समर्पण और ईश्वर शरणागति है।

२० ततः समाधि सिद्धिः ।

उससे समाधि की सिद्धि होती है।

२१ चित्ते लीने लयः ।

चित्त के लीन होने पर लय योग कहलाता है।

२२ प्राणस्थैर्यात्तदुपलब्धिः ।

प्राण शक्ति के स्थिर होने पर लय योग की प्राप्ति होती है।

२३ षट् चक्र वेधात् ।

छः चक्रों का वेध होने के कारण।

२४ आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धाज्ञा-भिधानि चक्राणि ।

आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा चक्रों के नाम हैं।

२५ पायूपस्थनाभिहृद्कंठ भ्रूमध्येषु तत्स्थानानि ।

गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कंठ, भ्रूमध्य देश में उनके स्थान हैं।

२६ तत्तु सुषुम्नाऽधिकृतानि ।

परन्तु चक्रों के ये स्थान सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर हैं। चक्र सुषुम्ना के अन्दर वे स्थान हैं जहां पर नाणियों के केन्द्र हैं। कंठ से निकलने वाली नाड़ियाँ ग्रीवा और हाथों में फैलती हैं, पृष्ठ भाग से निकलने वाली पीठ और पसलियों पर फैलती हैं,

हृदय का संबन्ध सीधा भी आज्ञा चक्र से है, कटि पर्व की नाड़ियां उदर, कमर और पैरों में अंगूठों तक चली गई हैं। उपस्थ विभाग की मूत्राशय, वीर्याशय आदि में गई हैं। गुदा की और उपस्थ की मिलकर कुछ सीवनी, गुदा, मलाशय इत्यादि में फैलती हैं। 'आज्ञाचक्र' मस्तिष्क और सुषुम्ना के चित्रा विभाग की शिराओं का, तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों का केन्द्र है। सहस्रार में सारे शरीर की नाड़ियों का सम्बन्ध इस प्रकार है जैसे हैड आफ़िस से शाखाओं का।

२७ मनोलय स्त्वाज्ञायाम्।

आज्ञा चक्र में प्राण पहुँचने पर मन का लय होता है।

२८ संकल्पविकल्पाऽभावश्च ।

संकल्प और विकल्प का अभाव होता है।

२६ एकाग्रता च मनसः।

और मन की एकाग्रता होती है। अर्थात् किसी ध्येय संकल्प पर भी एकाग्रता हो सकती है। और संकल्प विकल्प शून्य एकाग्रता भी होती है।

३० तदुपरि राजयोगः सहस्रारे ।

उसके ऊपर राज योग होता है सहस्रार में।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रार में प्राण जाने से राज योग होता है।

३१ तत्र ब्रह्मणि शक्तिर्लयान्निर्बीजसमाधिः प्राण-लयो मनोलयश्च ।

वहां पर अर्थात सहस्रार में शक्ति के ब्रह्म में लय हो जाने से निर्बीज समाधि होती हैं और प्राण और मन दोनों का लय हो जाता है ।

३२ ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है ।

यह पातंजल दर्शन के प्रथम पाद का तीसरा सूत्र है और योग की स्थिति का वर्णन करता है । जब तक द्दष्टा की अपने स्वरूप अर्थात् परब्रह्म में स्थिति नहीं होती तब तक वृत्तियों की सारूप्यता न्यूनाधिक बनी रहती है ।

कठबल्ली की नीचे दी हुई श्रुति भी इसी पद की प्राप्ति का उपदेश कर रही हैं ।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छच्छोन्त आत्मनि ॥

(बल्ली ३, अ० १, मंत्र १३)

बुद्धिमान् मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लय करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को प्रथमज महत्तत्व में लीन करदे और महत्तत्व का शान्त आत्मा (ब्रह्म) में लय कर दे ।

शक्तिपात क्रम में उक्त प्रक्रिया की सिद्धि सुषुम्नागत प्राणोत्थान द्वारा की जाती है ।

—:o:—

॥ द्वितीय पाद ॥

१ तदर्थंगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रुतेः ।

उसके लिये गुरु के पास ही जावे समित्पाणि, ऐसा श्रुति का उपदेश है।

ब्रह्मज्ञान के देने वाली शक्ति के उद्बोधनार्थ गुरु के पास ही जावे, अन्यथा बिना गुरु के उसकी प्राप्ति नहीं होती जैसा कि श्रुति का उपदेश है।

परीक्ष्य लोकान्कर्म चितान्ब्राह्मणो,
निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(मुण्डक १, काण्ड २, श्रुति १२)

अर्थ—कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य ग्रहण करे। क्योंकि कर्मद्वारा मोक्ष पद नहीं मिलता और उसके जानने के लिये हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास ही जावे, जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो।

ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिये विषयों से उदासीन होकर गुरु के पास जाने का उपदेश किया गया है। पूर्वकाल में सब ऋषि यज्ञ किया करते थे इसलिये शिष्य गुरु के पास दीक्षार्थ हाथ में समिधा लेकर जाता था। आजकल यज्ञादि करने की प्रणाली न रहने से पत्र, पुष्प, फलादि लेजाना चाहिये। खाली

हाथ नहीं जाना चाहिये। समित्पाणि कहने का अर्थ यह नहीं है कि उस काल में भी समिधा के अतिरिक्त फल, पुष्प न ले जाते होंगे। परन्तु समिधा ही क्यों कहा है इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो शिष्य ज्ञानाग्नि अपने अन्दर जलाने का अभिलाषी है और दो अरणियों से अग्नि प्रकट होती है। इसलिये समिधा ले जाना उसकी ज्ञनाग्नि प्राप्त करने की इच्छा का द्योतक है। गुरु को उत्तरारणि और शिष्य को अधरारणि से उपमा दी जाती है क्योंकि दोनों से ब्रह्म विद्या रूपी अग्नि प्रकट होती है और उनके द्वारा उसका क्रम भावी सन्तानों में चलता है। दूसरा अभिप्राय यह भी दीखता है कि शिष्य गुरु की छोटी से छोटी अर्थात् लकड़ी काट कर लाने की भी सेवा करने में अपना अभिमान समझता है।

२ ब्रह्मनिष्ठो वेधकः शक्तिपातक्षमश्च गुरुः।

गुरु ब्रह्मनिष्ठ, वेध करने वाला, और शक्तिपात करने में समर्थ होना चाहिये।

ब्रह्मनिष्ठ—जो यचित्त हो अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र अवस्था में रहकर ब्राह्मी स्थिति में रहता हो। ब्राह्मी स्थिति का वर्णन श्री भगवान् ने गीता के द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थित प्रज्ञ अथवा समाधिस्थ की व्याख्या करते हुए किया है। वेधक जो छवों चक्रों का वेध कर सके वह वेधक कहलाता है।

३ निग्रहानुग्रहक्षमश्च।

और जो निग्रह और अनुग्रह दोनों में समर्थ हो।

शक्तिपात करने को अनुग्रह और रोक देने को निग्रह कहते हैं। निग्रह से शिष्य के वेग को कम किया जा सकता है। जितना गुरु के लिये अनुग्रह करने का सामर्थ्य आवश्यक है उतना ही निग्रह करने का भी, क्योंकि कभी कभी अधिक वेग हो जाने पर उसके कम करने की भी जरूरत पड़ जाती है। ऐसा ही गुरु, शिष्यों के वेग को संयम में रख सकता।

४ परीक्ष्य दीक्षयेत्।

गुरु शिष्य की परीक्षा करके दीक्षा देवे।

यदि अयोग्य होवे तो दीक्षा न दे। उसको योग्य बनने के लिये समय दे। समय पाकर पका हुआ फल अच्छा होता है इसलिये शीघ्रता करना उचित नहीं है।

५ शक्तिपात एव दीक्षा।

शक्तिपात करना ही दीक्षा देना है।

शक्ति का एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक दो प्रकार से प्रवाह होता है। स्पर्श द्वारा और बिना स्पर्श के। आगे चल कर बताया जायगा कि शरीर के भीतर शक्ति का प्रवाह नाड़ियों के आश्रय से होता है। परन्तु जब वह शरीर से बाहर भी संक्रमित होती है तो उसकी गति किस तत्व के आश्रय से होती है और वह अग्नि ताप के सदृश चारों ओर फैलती है अथवा धारा रूप एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, क्या उसकी गति का अनुभव हो सकता है, यदि होता है तो उसका स्वरूप क्या है, इत्यादि अनेक प्रश्न यहां पर उत्पन्न होते हैं जो एक स्वतन्त्र

विज्ञान का विषय है। परन्तु इस विषय पर आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर अन्वेषणों के अभाव के कारण तत्वतः विवेचन करना तो असम्भव प्रायः ही है परन्तु साधन करने वाले कुछ महानुभावों के अनुभवों और अनुमानों के आधार पर उक्त प्रश्नों पर थोड़ा प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। यह बात तो अनुभूत है कि शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होती है और मनुष्य के शरीर से अथवा प्रश्वास से चारों ओर इस प्रकार फैलती है जैसे तप्त गोले से उष्णता। यह भी प्रतीत होता है कि उसकी गति का मार्ग (Medium) वायु तो नहीं है। सम्भव है आकाश तत्व (Ether) अथवा उससे भी सूक्ष्म कोई तत्व हो। सांख्य की परिभाषानुसार उसको सम्भवतः, मनस्सत्ता मनस्तत्व (Mind Stuff) अथवा महत्तत्व कह सकते हों। कभी कभी शक्ति की गति गोली की तरह सीधी भी होती है। शक्ति का अस्तित्व स्पर्शेन्द्रिय द्वारा किसी किसी को होता देखा जाता है परन्तु वह सूक्ष्म विषय होने के कारण अभ्यास के प्रारम्भिक अवस्था में अनुभव गम्य नहीं होता। किसी किसी अभ्यासी को विद्युतत्प्रकाशवत् दृष्टिगोचर होता हुआ भी देखा गया है। यह प्रकाश नाड़ियों में अन्दर और शरीर के बाहर भी गतिमान् दीख पड़ता है। अभ्यास करने वालों का यह भी अनुभव है कि उक्त शक्ति बाहर बादल, अग्नि, विद्युत् सूर्यादि अथवा केवल वायु आकाश और किसी स्थान से भी संकल्प द्वारा अपने शरीर में खेंची जा सकती है। इसलिये उनका कहना है कि

परमात्मा की शक्ति सब पदार्थों में भरपूर है। उसको अन्दर की शक्ति जागने के पश्चात् योगी अपने संकल्प से खींच सकता है। उक्त प्रकार से खींची हुई शक्ति शरीर में प्रवेश करके चेतनवत् ही व्यवहार करती है। इसलिये विद्युदादि शक्तियों से वह भिन्न और उत्तम है।

जब शक्ति योगी की इच्छा से बाहर जाती है तो पृथ्वी पर देश देशान्तर में कहीं भी भेजी जा सकती है। Telepathy आदि उक्त शक्ति के ही कार्य हैं।

अनुमान से कहा जा सकता है कि बहुत संभावना है कि इस आध्यात्मिक शक्ति से विद्युदादि आधिभौतिक शक्तियां भी उत्पन्न की जा सकें।

अध्यात्मिक शक्ति का तीन दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है:—

१. अपने आध्यात्मिक लाभार्थ।

२. दूसरों के आध्यात्मिक लाभार्थ।

३. आधिभौतिक जगत् में भौतिक सिद्धियों के लिये प्रयोगार्थ, जिस रीति से उसका भौतिक शक्तियों से सम्बन्ध मालूम हो सके।

यहां पर उपरोक्त दो दृष्टिकोणों से इस विषय पर किंचित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

६. ततः शक्ति प्रदीपनं दीपवत्।

उससे शक्ति का प्रदीपन होता है दीपक के सदृश्य।

जैसे एक प्रज्वलित दीपक की शिखा से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार गुरु की शक्ति के शिष्य पर गिरने से उसकी शक्ति जाग उठती है।

७. ततः दिव्यं ज्ञानं सम्पद्यते क्षीयते च बन्धनम्।

उससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और बन्धन का क्षय होता है।

८. दीप्ते ज्ञानाग्नौ मल विक्षेपाऽवरणहानिः।

ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर मल, विक्षेप और आवरण की हानि होती है। मल पापों को, विक्षेप चित्त की चंचलता को और आवरण अज्ञान के पर्दे को कहते हैं।

९. गुरु गृहे निवसेत्तिस्रो रात्रीः।

गुरु के घर पर तीन रात्रि निवास करे। यहां रात्रि शब्द का प्रयोग किया गया है न कि दिन का। इसका अभिप्राय यह है कि साधन काल सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व ब्राह्म मुहूर्त में अच्छा होता है।

१० तोषयेच्च भोजनवस्त्रदक्षिणाभिः प्रणिपातेन सेवया च।

और गुरु को भोजन वस्त्र दक्षिणा देकर प्रणाम और सेवा करके सन्तुष्ट करे, श्री भगवान ने गीता में कहा है:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थः—उसको (ज्ञान को) प्रणाम करके प्रश्न करके और सेवा करके जानो, ज्ञान का उपदेश तुमको तत्वदर्शी ज्ञानी देंगे।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि वीतरागविषय गुरुओं को सन्तुष्ट करने का क्या अभिप्राय है, वे सदा सब से ही सन्तुष्ट रहते हैं। परन्तु शरीर धारी गुरुको वस्त्र भोजन धनादि की आवश्यकता तो होती ही है उनका वीत राग होने का अर्थ यही है कि वे विषयों में आसक्ति नहीं रखते और किसी से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी यथासम्भव प्रार्थना अथवा आज्ञा नहीं करते। परन्तु शिष्योंका धर्म है कि अपने अनुमानसे उनकी आवश्कताओं को जान कर बिना कहे यथा शक्ति पूरा करें, इससे वे उनका सन्तोष प्राप्त करेंगे।

११ दीक्षा त्रिविधा।

दीक्षा तीन प्रकार की है।

१२ दर्शनाद् भाषणात्स्पर्शाच्च।

दृष्टि के द्वारा, भाषण द्वारा और स्पर्श से।

साधारणतः शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है (१) दृष्टि से (२) मंत्रादि देकर और (३) हाथ से छूकर। इन तीनों कर्मों में शक्तिपात करने वाले की इच्छा होने पर शक्ति संचार होता है। इच्छा न होने पर नहीं होता है। इसलिये इच्छा ही से शक्तिपात होता है। स्पर्शादि तो वाह्य साधन हैं।

१३ मानस्यपीति केचित् ।

परन्तु दीक्षा मानसिकी भी है इसलिये कोई लोग शक्तिपात को चार प्रकार का मानते हैं।

जैसे पहिले कह आये हैं कि बिना इच्छा के तो स्पर्श, अवलोकन और भाषण से भी दीक्षा नहीं होती, तो चौथी मानसी कहने की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान यह है कि मानसी दीक्षा ऐसी अवस्था में दी जाती है जब कि गुरु शिष्य का किसी कारण स एक स्थान पर समागम न हो सकता हो। जैसे दोनों दूरस्थ देशों में हों और शिष्य गुरु के समीप न आ सकता हो। अथवा किसी कारण से गुरु शिष्य की अपने सन्मुख उपस्थिति की आवश्यकता न समझता हो तो गुरु के संकल्प से दूरस्थ शिष्य पर शक्तिपात हो सकता है।

१४ सा पूनरप्यधिकारि भेदतस्त्रिधा ।

वह दीक्षा फिर भी अधिकारी भेद से तीन प्रकार की है।

१५ मृदुमध्यतीव्रत्वात् पिपीलिकाकपिखगन्यायवत् ।

मृदु, मध्यम और तीव्र होने के कारण, चींटी, बन्दर और पक्षी के न्याय के सदृश।

अधिकारी के भेद से किसी में हलका वेग आता है किसी में मध्यम और किसी में तीव्र। किसी किसी को पूर्ण विकास होने में एक दो या तीन दिन और अधिक समय भी लग जाता है। किसी को प्रथमवार ही विकास हो जाता है परन्तु धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा और किसी को उसी क्षण स्पर्श, अवलोकन

अथवा मंत्र प्राप्त होते ही वेग से विकास हो जाता है। जैसे वृक्ष पर लगे हुए फल तक चींटी धीरे धीरे पहुँचती है, कपि एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदता फाँदता जाता है और पक्षी उड़ कर सीधा उस पर जा बैठता है।

१६ सा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी वेधमयीति ब्रह्मा।

ब्रह्माजी ने कहा है कि दीक्षा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी होती है। क्रियावती इसलिये कहलाती है कि उस में नाना प्रकार की क्रियायें होती हैं। कलावती इसलिये कि उससे तत्व शुद्धि होती है और ३६ तत्वों को ५ कलाओं में बांटा गया है। ३६ तत्वों के नाम इस प्रकार हैं:—

शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, महतत्व, अहंकार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ तन्मात्रायें, ५ महाभूत। इनमें प्रथम दो तत्व शान्त्यातीता कला, फिर अगले ३ तत्व शान्ति कला, ७ तत्व माया कला, २३ तत्व प्रतिष्ठा और अन्तिम पृथिवी तत्व निवृत्ति कला के अंग माने जाते हैं।

सारा विश्व नाम रूपात्मक दृश्य है। कलावती का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं से और वरणमयी का संबन्ध वरणात्मक नाम अर्थात् शब्दमयी सृष्टि से समझना चाहिये। वर्णमयी में मंत्र, पद, कविता इत्यादि की शक्ति उदय हो जाती है और वेधमयी इसलिये कहलाती है कि उससे षट् चक्रों का वेध

होता है। उक्त चारों रूप किसी किसी में प्रकाशित होते हैं किसी में एक, दो अथवा तीन।

१७ शिवादेशकारिणीति शांभवी।

शिवजी के आदेश कराने वाली शांभवी कहलाती है।

जिसको शिवजी के आदेश श्रवण द्वारा, वचन द्वारा, लिख कर अथवा विचारों में स्पष्ट रूप से आने लगें तो समझना चाहिये कि शांभवी है।

१८ योगोक्तक्रमतो योगदीक्षा।

योग में कहे हुए क्रम से दी हुई दीक्षा योग दीक्षा है।

इसमें योग की क्रियायें प्रधान रूप से होती हैं अन्य साधन गौण रूप से होते हैं।

१९ सैव शाक्तेयी शाक्तीकी ज्ञानवती वा।

वही शाक्तेयी, शाक्ती अथवा ज्ञानवती दीक्षा भी कहलाती है।

ज्ञानवती कहने की जगह कोई ज्ञान दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि शक्ति ही ज्ञान है। शाब्दिक उपदेश वास्तव में ज्ञानोपदेश नहीं है। शक्ति द्वारा ज्ञान का प्रकाश शिष्य में स्वयं उदय होता है वह ही यथार्थ में ज्ञान का उपदेश है।

२० मंत्रमार्गानुसारेण मान्त्री।

मंत्र शास्त्र के अनुसार दी गई दीक्षा मान्त्री कहलाती है।

२१ मंत्रार्चनाद्युपचारैराणवी।

मंत्र अर्चन आदि उपचारों की सहायता से क्रमशः उन्नति कराने वाली आणवी दीक्षा कहलाती है।

२२ षट् चक्र वेधाद्वेधमयी।

षट्चक्रों का वेध होने के कारण वेधमयी दीक्षा कहलाती है।

२३ वेदान्त योग भक्ति संप्रदाय भेदतोऽपि बहुविधा

वेदान्त, योग, भक्ति आदि संप्रदायों के भेदों से भी बहुत प्रकार की दीक्षा होती हैं।

२४ सा एकैव शक्तिमत्वात्।

वह बहुत प्रकार की होते हुये भी एक ही है शक्ति का प्रबोध होने के कारण।

ब्रह्म की शक्ति तो एक ही है, इसलिये सब का फल मोक्ष ही है, यद्यपि उसका विकास नाना प्रकार से देखा और सुना जाता है।

२५ वीतरागचित्तालम्बनात्।

वीतराग चित्त का अवलम्बन होने के कारण शक्तिपात दीक्षा होती है।

२६ सिद्धसंकल्पाद्वा।

अथवा सिद्ध संकल्प होने से।

योगी वीतराग होने से सिद्ध संकल्प हो जाता है इसलिये 'वा' का प्रयोग किया गया है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाकर उसकी आध्यात्मिक जागृति किस कारण से कराती है, उसकी वृत्तियाँ शीघ्र निरुद्ध कैसे होने लगती हैं ? इत्यादि शंकाओं का समाधान इन दो सूत्रों से किया गया है। प्रथम सूत्र के भाष्य में

बताया जा चुका है कि वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन लेकर शक्तिपात द्वारा शक्ति संचार होने से शिष्यों को शीघ्र एकाग्रता का लाभ होता है। पातंजल दर्शन के 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र का अर्थ साधारण लोग तर्क और अनुमान के आधार पर किया करते हैं परन्तु अच्छी तरह नहीं समझ सकते। वेद व्यास जी ने अपने भाष्य में वीतराग महात्माओं का ध्यान नहीं कहा है वरन् यह कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध वीतराग चित्त के आलंबन अर्थात आश्रय से होता है। शक्तिपात दीक्षा में शक्ति का संचार गुरु के संकल्प का आश्रय लेकर होता है और उस शक्ति से शिष्य को वीतराग चित्त का आलम्बन मिलता है। इसका अनुभव शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने वालों को होने से उनकी समझ में उक्त सिद्धान्त सुगमता से आ सकता है। यथा:—

चित्त का और शक्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है यह श्रुतियों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है।

२६ श्रुतेः।

श्रुति का प्रमाण है। यथा:—

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशांततेजाः पुनर्भव मिंद्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः। यच्चितस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

प्रश्न (३) मंत्र ९, १०

अर्थ—तेज ही निश्चय से उदान है, इसलिये जिसका तेज उपशान्त हो गया है, उस तेज को पुनः उत्पन्न करने के लिये इन्द्रियों को मन में अच्छी प्रकार ले जाकर जिसने अपना चित्त एकाग्र कर लिया है, उसमें एकाग्र चित्त के द्वारा प्राण आ जाता है और प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के सहित जैसा संकल्प मनुष्य करता है उसी लोक को ले जाता है अर्थात् उसी प्रकार की सिद्धि देता है।

उपरोक्त श्रुतियों में उपशान्त तेजा का अर्थ यदि मृत्यु लिया जाय तो जैसा श्री शंकराचार्य महाराज ने कहा है जन्मान्तर में प्राण इस जन्म के किये संकल्पित लोक को ले जाता है। परन्तु जो क्रिया मृत्यु के समय प्रकृति के वश होती है वह ही क्रिया योगी अपनी इच्छा से जीवनकाल में करता रहता है अर्थात् इन्द्रियों को मन में लय करता है और मन को बुद्धि में और फिर बुद्धि को आत्मा में, और आत्मा सहित सुषुम्णा मार्ग से धारणा, ध्यानसमाधि करके कथा संकल्पित सिद्धि को प्राप्त करता है। जीवनकाल में उपशान्त तेजाः का अर्थ ऐसे मनुष्यों के लिये किया जा सकता है जो ब्रह्मतेज से क्षीण हो रहे हैं। उनके लिये उस तेज के पुनर्भव अर्थात् फिर उत्पन्न करने का साधन योग मार्ग द्वारा इन्द्रियों का प्रत्याहार करके चित्त की एकाग्रता करना है। मनुष्य को संयचित्त होने से प्राण शक्ति आती है यह बात उपरोक्त श्रुति में बताई गई है और सबके अनुभव की भी बात है। इसी प्रश्न की आठवीं श्रुति में आदित्य को वाह्य प्राण बताया है उसका

सम्बन्ध चाक्षुष प्राण से है, पृथ्वी की देवता रूप शक्ति वाह्य अपान है, आकाश समान, वायु व्यान, और अग्नि उदान है। निरुद्ध चित्त वाले मनुष्य को उपरोक्त पांचों प्रकार की शक्तियाँ विश्व भण्डार से मिलने लगती हैं। जैसा कि हमने इसी पाद के ५वें सूत्र में कहा है कि योगी शक्ति को वायु, आकाश, सूर्य, अग्नि सब जगह से खींचने लगता है। प्राण शक्ति को आवाहन करने का उपाय यच्चित्तता ही है। चित्त के निरोध से प्राणशक्ति को उदान रूपी तेज से युक्त करके योगी तेजोमय बनता है और उसी प्राण शक्ति को दूसरों में भी दृष्टि द्वारा चाक्षुष प्राण की सहायता से, अथवा मंत्र द्वारा अग्नि स्वरूप समान शक्ति के आधार से, अथवा स्पर्श द्वारा वायु रूप व्यान शक्ति के आधार से दूसरों में शक्तिपात करके उनमें भी उक्त ब्रह्मतेज को उत्पन्न कर देता है। योगी के संकल्प के अनुसार प्राण शक्ति का उदान सहित शिष्य में संचार होता है यह अभिप्राय भी १० वीं श्रुति के अन्तर्गत निहित है।

उपरोक्त श्रुतियों में शक्ति सम्पादन करने का रहस्य स्पष्ट रूप से बताया गया है जो क्षीण तेज मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन को संयम में स्वयं नहीं ला सकते उनको शक्तिपात द्वारा गुरु की शक्ति के आलम्बन से यह कार्य सम्पादित हो जाता है। शक्तिपात के पश्चात् शिष्य की अपनी शक्ति जाग उठने से वह स्वयं भी अपनी इन्द्रियों और मन का संयम करने लगता है। प्राण से मनोनिरोध और मनोनिरोध से प्राण शक्ति का संचय उत्तरोत्तर होने लगता है।

२८ स्मृतेश्च ।

और स्मृतियों का भी प्रमाण है।

पुराणों में और तंत्र शास्त्रों में इस विज्ञान का रहस्य अधिक विस्तार से मिलता है।

यथा :—शक्तिपातसमायोगादृते तत्वानितत्वतः ।
तद्व्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ॥
(शिव पुराण वायवीसंहिता)

अर्थ—शक्तिपात के समायोग के बिना तत्वतः तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।

२६ तत्तुसति धर्माधर्मयोः साम्ये ।

परन्तु वह शक्तिपात धर्म और अधर्म की साम्यावस्था होने पर होता है।

अर्थात् गुरुजन पापी मनुष्यों पर शक्तिपात नहीं करते और यदि करना भी चाहें तो पाप की अधिकता होने पर शक्ति का संक्रमण नहीं होता। पाप दग्ध होकर जब पाप पुण्य की साम्यता आती है तब ही उसका विकास होता है। इसी अभिप्राय से कुष्ट, यक्ष्मा, मिरगी, बवासीर, सुज़ाक, आतशक जैसे पापी रोगों से पीड़ित मनुष्यों को दीक्षा देने का निषेध है। अन्धे, काने, बहिरे, अंगहीन और और अधिकांगियों की भी गणना उसी कोटि में की गई है।

३० यस्मिन्नपतति तद्धि न पात्रम् ।

जिस मनुष्य में शक्ति नहीं गिरती वह पात्र नहीं है।

परन्तु इस सूत्र का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें शक्ति जाती है वह दीक्षा का पात्र है ही। यह भी संभावना हो सकती है कि शक्ति जाने पर भी कोई कोई दीक्षा के योग्य नहीं होते।

३१ वर्णानां न नियमः ।

वर्णों का नियम नहीं है।

जिसको गुरु स्वीकार करले वह ही पात्र है, वर्ण, जाति का नियम नहीं है। ईसाई, मुसलमान, यूरोप अथवा अन्य देशों के निवासी सब ही पात्र हो सकते हैं।

३२ बालवृद्धस्त्रीपुमान्सः सर्वेऽधिकारिणः ।

बालक, वृद्ध, स्त्री, और पुरुष सब अधिकारी हैं।

३३ एकाकी दीक्षितैर्वा सह समभ्यसेत् ।

अकेला अथवा दीक्षितों के संग अभ्यास करे।

३४ शुचौ गुप्तदेशे मठे गुहायां वा ।

किसी शुद्ध बन्द कमरे में, मठ अथवा गुफ़ा में अभ्यास करे।

जन समुदाय में सब के सामने अभ्यास करना निषिद्ध है। क्योंकि ऐसा करने से शक्ति का ह्रास होता है, साधक की उन्नति में बाधा पड़ती है, और विघ्नों का भय होता है।

३५ तत्र स्थापयेत् कम्बलासनमजिनासनंवा ।

वहां पर कम्बल अथवा मृग या व्याघ्रादि के चर्म का

आसन बिछावे। चटाई अथवा बिना आसन के भूमि, पत्थर अथवा लकड़ी के आसन पर अभ्यास न करे।

—:o:—

तृतीय पाद।

१ कोषेषु तद्विकासः। २ अन्नप्राणमनोविज्ञानानन्द-मयाःश्रुतेः।

कोषों में उसका विकास होता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोष हैं श्रुति के अनुसार। कोष पांच हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में पांच कोषों का वर्णन मिलता है उनमें प्रथम चार तो कोष ही समझने चाहिये परन्तु अन्तिम आनन्दमय तो स्वयं आत्मानन्द का ही रूप है।

तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिण पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।

उसका (आनन्द मय कोष का) सिर प्रियता है दक्षिण पक्ष मोद, उत्तर पक्ष प्रमोद, आत्मा आनन्द और ब्रह्म उसकी पूंछ प्रतिष्ठा है। इसलिये शक्ति का विकास प्रथम चार में तो प्रत्यक्ष प्रतीत होता ही है, परन्तु आनन्दमय में आनन्द के विकास का अर्थ विकल्प मात्र ही है। उसका अर्थ यह ही समझना चाहिये कि आनन्द का अनुभव होना ही आनन्द मय परमात्मा का साक्षात्कार है और वह ही आनन्द मय का विकास है—

सवा एष पुरुषोऽन्नरस मयः, तस्माद्वा एतस्मादन्नरस-

मयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञान मयः, विज्ञान मयात् अन्योऽन्तर आत्मानंदमयः।
(तै० २-५)

उक्त कोषों में शक्ति का विकास किस प्रकार होता है इसके लिये नीचे कोषों का स्वरूप दिखाया जाता है।

३ पार्थिवोऽन्नमयः।

पार्थिव शरीर अन्न का बना हुआ है।

४ तत्र नाड्योऽनन्ताः।

उसमें अनन्त नाड़ियां हैं।

प्रश्नोपनिषद् में नाड़ियों की संख्या ७२००००१ कही है, एक सुषुम्ना और १०० प्रधान नाड़ियाँ हैं। फिर प्रत्येक सौ में से ७२००० शाखायें फूटती हैं। इस प्रकार अनन्त नाड़ियों से सारा शरीर व्याप्त है। अंग्रेजी में इन नाड़ियों को Nerves कहते हैं। नाड़ी विज्ञान समझने के लिये हमारी लिखित अंग्रेजी की देवात्मशक्ति पुस्तक पढ़ें।

५ कंदस्तन्मूलम्।

कंद उनकी जड़ है।

कंद के अन्दर अंग्रेजी में Ganglion impar नाम की एक ग्रन्थि बताई जाती है। उस ग्रन्थि में से पश्चिम के विद्वानों के मत से दो नाड़ियां निकलती हैं जो मेरु दंड के बाहर उसके

दक्षिण वाम पक्ष में खड़ी हैं उनका नाम अंग्रेजी में sympathetic columns रखा गया है। इन ही दोनों को इड़ा और पिंगला कहते हैं, हमारे ऋषियों के मतानुसार कंद एक मांस पेशि है जो ६ अंगुल लम्बी और ४ अंगुल घेरे वाली है। उसके केन्द्र में कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। वहाँ से सुषुम्ना, इड़ा और पिङ्गला तीनों का उद्गम होता है। यह स्थान गुदा से ऊपर और उपस्थ से नीचे मेरुदण्ड की अनुत्रिकास्थि के समीप है।

६ पायूपस्थयोर्मध्ये तत्स्थानम्।

गुदा और उपस्थ दोनों के मध्य प्रांत में उस कन्द का स्थान है।

७ एतस्मादिडापिंगलासुषुम्ना उद्भूताः।

उससे इड़ा पिङ्गला और सुषुम्ना उत्पन्न होती हैं।

पश्चिम के डाक्टरों के मत से सुषुम्ना का उससे संबंध नहीं है। परन्तु योगियों का अनुभव इसके विपरीत है।

८ ताभ्यः शाखा प्रति शाखा क्रमेण सहस्रसः।

उन तीनों से शाखा प्रति शाखा क्रम से हजारों नाड़ियां उत्पन्न होती हैं, पश्चिम के डाक्टरों के मतानुसार नाड़ियों का उद्गम स्थान शिरः कपाल है, परन्तु योगियों का मत है कि कंद ganglion impar सब की जड़ है, उसमें से तीन तने trunks निकलते हैं, जो नीचे पतले और ऊपर मोटे होते जाते हैं। उनमें से एक मेरु दण्ड के भीतर और दो बाहिर खड़े हैं। इड़ा और पिङ्गला में चौबीस चौबीस गांठे हैं इनको अंग्रेजी

में ganglia कहते हैं, योगशिखोपनिषद् में इनको मणि कहा है, उक्त मणियों में से एक २ शाखा सुषुम्ना के चित्रा विभाग में जा मिलती है। इड़ा से निकलने वाली चित्रा के वाम भाग में और पिङ्गला से निकलने वाली चित्रा के दक्षिण भाग में मिलती है। दूसरी ओर उन ही मणियों से अन्य शाखाएं भी निकलती हैं—वे सब शरीर के सब अंग प्रत्यङ्गों में फैल जाती हैं जैसे पीपल के पत्ते की नाड़ियां। ऐसा क्रम आधार से आज्ञा चक्र तक है, उसके ऊपर इड़ा पिङ्गला का अन्त हो जाता है। परन्तु उनकी दो शाखायें दोनों नासा पुटों तक आती हैं और उनमें सम्बन्ध रखने वाले चित्रान्तर्गत शिरा समूह दक्षिण से वाम ओर और वाम से दक्षिण ओर क्रौस cross (×) करके (संगम करके) मस्तिष्क में फैल जाती हैं—जिस स्थान पर ये क्रौस करती हैं उस स्थान को वाराणसी कहते हैं यहां पर विश्वनाथ विराजते हैं। आज्ञा चक्र को प्रयाग कहते हैं, आज्ञा चक्र के किञ्चित् ऊपर मनोमय चक्र sensory centre है जहां से आंख, कान, नाक, जिह्वा, मुख हृदय से संबंध रखने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं। पश्चिम के विद्वानों ने इन सब को तीन श्रेणियों में विभक्त किया हुआ है (१) cerebrial nerves अर्थात् वे जो सुषुम्ना के छोटे मास्तिष्क विभाग अर्थात् कपाल कंद से उदय होती हैं—(२) spinal जो मेरू से निकल कर सारे शरीर में फैल जाती हैं—(३) sympathetic जो इड़ा और पिंगला से निकलकर सब अङ्गों में फैलती हैं, इनको sympathetic इस लिए कहते हैं कि ये सुषुम्ना को

सहयोग देती हैं। भारत के विद्वानों ने सबको सुषुम्ना की शाखाएं माना है जैसा निम्नश्लोक में कहा गया है :—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्व पंचसु संभवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्ष त्रयात्परम् ॥

शरीर के मध्य में स्थित सुषुम्ना के पांचों पर्वों से उत्पन्न होने वाली नाड़ियां शाखा उपशाखा क्रम से तीन लाख से भी अधिक हो जाती हैं, पांच पर्व ये हैं, ग्रीवा, पृष्ठ, नाभि, कटि, और आधार, अंग्रेजी में इनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) Cervical (2) Thorscial (3) Lumber (4)Sacral (5) Coccygeal.

उपरोक्त वर्णन से यह जानना आवश्यक है कि योगियों का क्रम कंद से ऊपर मस्तिष्क तक फैलना सीधा अथवा लोम क्रम है, और पश्चिम वालों का उलटा अथवा विलोम क्रम है— क्योंकि शक्ति प्रसुप्त रूप से in statical form कंद में निवास करती है और सुषुम्ना द्वार से जब सहस्रार Cerebral में चढ़ कर समाधि लगाती है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है इससे विपरीत क्रम संसार में डालने वाला इच्छा, संज्ञान, और क्रियात्मक स्वरूप, जन्म मृत्यु और भोग रूपी बन्धन का कारण है।

९ सुषुम्ना वंशस्थिता। १० तस्यामूर्ध्द तो वज्राचित्रा विरजा क्रमेण संपुटिताः ।

सुषुम्ना पृष्ठवंश अथवा मेरु दण्ड में स्थित है और उसके ऊपर से केन्द्र की ओर भीतर तीन विभाग हैं। बज्रा, चित्रा, और विरजा, इनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं। White portion, Grey portion and Empty canal.

११ पूर्वे द्वे वहिः ।

पहिली दोनों इड़ा पिङ्गला मेरु के बाहर हैं।

१२ ते उत्तरस्यामर्पिते ।

वे दोनों सुषुम्ना में समर्पित हैं।

१३ सर्वोपरि वज्रा वज्रवद्दृढ़ा ।

सबसे ऊपर वज्रा वज्र के सदृश दृढ़ है।

१४ मध्ये चित्रा चित्रवर्णा सव्याऽपसव्येड़ापिङ्गलावती ।

मध्य में चित्रवर्णा चित्रा है, वाम दक्षिण भागों में इड़ा और पिङ्गला के धर्म वाली है।

चित्रा के दोनों भागों से वाम दक्षिण ओर नाड़ियां निकल कर पहिले तो सुषुम्ना के ऊपर ही लपेटे खाती हैं फिर वाम भाग वाली वंश के वाम छिद्र से और दक्षिण भाग वाली दक्षिण छिद्र से बाहर निकल कर इड़ा पिङ्गला से मिलती हैं और स्वतन्त्र रूप से भी हाथ-पैरों तक फैल जाती हैं। अर्थात इनके द्वारा सारे शरीर का मस्तिष्क से सम्बन्ध बना हुआ है।

१५ विरजैव ब्रह्मनाड़ी कमलकर्णिकावत् षट्चक्रवतीच ।

विरजा (empty canal) ही ब्रह्मनाड़ी है, कमल के नाल के सदृश और वह छः चक्रों वाली है।

वास्तव में ६ चक्रों का स्थान चित्रा में ही जानना चाहिये, परन्तु जबतक ये चक्र नहीं खुलते विरजा का मार्ग साफ नहीं होता।

१६ प्रमुखा मोक्षमार्गत्वाच्छ्रुतेः ।

यह ही प्रमुखा है मोक्ष मार्ग होने के कारण, श्रुति इसका प्रमाण है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मुर्द्धानभिनिःसृतैका ।
तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङऽन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥

(कठ २।३।१६)

हृदय की सौ और एक नाड़ियां हैं, उनमें एक मूर्द्धा को चढ़ जाती है उससे ऊपर जा कर अमरत्व को प्राप्त करता है और दूसरी नाड़ियों से उत्क्रमण करके विश्व में जन्म लेता है।

यहां पर हृदय का अर्थ हृदय पिण्ड न लेकर हृदय की शक्ति अर्थात् प्राण शक्ति लेना चाहिये। इसलिए हृदय की नाड़ियों से प्राण वाहिनी अथवा वात नाड़ियों से अभिप्राय है। श्रीमत् शंकराचार्य महाराज ने भी उक्त एक नाड़ी से सुषुम्ना नाड़ी का ही ग्रहण किया है और वह हृदय से नहीं वरन् पृष्ट वंश में चढ़ती है जैसा कि निम्नोद्धृत श्लोक से स्पष्ट है।

गुदस्य पृष्ट भागेऽस्मिन् वीणादण्डः स देहभृत् ।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाड़ीति कथ्यते ॥

(योग शिखोपनिषत्)

गुदा के पृष्ठ भाग में वीणा दण्ड देह को धारण करता है वह मोटी हड्डी का बना हुआ देह पर्यन्त तक है। उसमें ब्रह्म नाड़ी स्थित है ऐसा कहा जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि उपरोक्त कठवल्ली की श्रुति में हृदय शब्द आया है इसलिये यह एक नाड़ी सुषुम्ना नहीं है वरन् Vagusnerve है जिसको पातञ्जल दर्शन में कूर्म नाड़ी कहा है उसपर ध्यान करने से मन में स्थिरता मात्र होती है, परन्तु समाधि तो सुषुम्ना में प्राण चढ़ने से ही लगती है। क्योंकि—

१७ अनुभवादपि योगिनाम् ।

योगियों के अनुभव से भी वह सुषुम्ना ही है।

१८ स्मृतेश्च ।

स्मृतियों का भी प्रमाण है।

तंत्र शास्त्रों में, पुराणों में सुषुम्ना का बहुत वर्णन मिलता है।

१९ संज्ञान-क्रियात्मकत्वात् द्विविधा अन्याः ।

अन्य नाड़ियां दो प्रकार की हैं संज्ञानात्मक और क्रियात्मक होने से।

२० ताभिः प्राणश्चरति ।

उन नाड़ियों के द्वारा प्राण शक्ति प्रवाह करती है।

२१ एष प्राणमयः ।

यह प्राणमय कोष है।

प्राणमय कोष अन्नमय कोष के अन्दर सूक्ष्म शक्तिमय कोष है। यह शक्ति यद्यपि स्थूल शरीर में पार्थिव तन्तुओं के

जाल द्वारा उसको व्याप्त किये हुए है तो भी उक्त तन्तु जाल अथवा नाड़ियां प्राणमय कोष नहीं है।

२२ हृदि स्थानं मनसः ।

हृदय में मन का स्थान है।

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तहृ दये ।

(वृ० ५,६,१)

२३ तदपि प्राणाऽनुगम् ।

वह भी प्राण शक्ति के आधार पर चलता है।

मनकी गति भी प्राण के पीछे २ है। कहा है—

इंद्रियाणांहि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता (२, ६७)

चलती हुई इंद्रियों के पीछे २ जब मन चलता है तब वह उस मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार हर लेता है जैसे समुद्र में नाव को वायु। इन्द्रियां प्राणशक्ति का ही स्थूल कार्य है।

२४ एष मनोमयः ।

यह मनोमय कोष कहलाता है।

मन की गति ही जो संकल्प मय है मनोमय कोष कहलाती है। चित्त की वृत्तियों को मनोमय कोष की तरंगे समझना चाहिये। कहा है—'संकल्पात्मनं मनः'।

२५ कूर्म नाड्या तद्विज्ञानेन युक्तम् ।

यह मनोमय कोष विज्ञान मय से कूर्म नाड़ी के द्वारा संयुक्त है।

कूर्म नाड़ी को अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं।

२६ मूर्ध्नि विज्ञान मयः।

मस्तिष्क में विज्ञानमय कोष हैं।

विज्ञान मय कोष के धर्म चेतना, संवित, बुद्धि और अहंकृति हैं अंग्रेजी में इनको Different States of concious-ness के अन्तर्गत माना जाता है विज्ञानमय कोष की तीन तह या तीन स्तर हैं।—

(१) संस्कारों का आशय Sub-conciousness (२) स्मृति Nme or personal conciousness (३) शुद्ध संवित pure or impersonal conciousness.

इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में मनुष्य ने जो जो अच्छे या बुरे कर्म किये हैं उनके संस्कार विज्ञानमय कोष में सदा संचित रहते हैं, इस को संस्काराशय अथवा कारण शरीर कहते हैं। परन्तु जब वे स्मृति पटल पर आ जाते हैं तब ही मनुष्य को उनका ज्ञान होता है। यह ही विज्ञान मय कोष का अङ्ग है। पहिली संस्कारों की और दूसरी स्मृति की अवस्था है। शुद्ध संवित में निरुपाधिक-ज्ञान होता है, जो शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता से दीख पड़ती है उसमें इन्द्रिय ज्ञान अथवा वृत्ति ज्ञान का अभाव रहता है।

२७ संज्ञान क्रियेच्छात्मिकाशक्तिः ।

शक्ति संज्ञानात्मिका, क्रियात्मिका और इच्छात्मिका तीन रूप से व्यक्त होती हैं ।

२८ मनोविज्ञानाभ्यामिच्छा ।

मन और विज्ञान के द्वारा इच्छा शक्ति कार्य करती है।

२९ ज्ञानेन्द्रियैः संज्ञाना ।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संज्ञाना शक्ति।

गंध, रस, रूप, स्पर्श और श्रवण को ५ इन्द्रियें, ज्ञानेन्द्रियां हैं इन में जो शक्ति कार्य करती है उसको संज्ञान शक्ति कहते हैं।

३० कर्मेन्द्रियैः क्रिया ।

कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रिया शक्ति कार्य करती हैं ।

बोलना, पकड़ना, चलना, मैथुन की क्रिया करना और मलमूत्र का त्याग करना क्रिया शक्ति का कार्य है ।

३१ सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।

उपरोक्त सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं ।
'अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम' (प्रश्नोपनिषत् २—६)

अर्थ—जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे रहते हैं उसी तरह शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं ।

३२ प्राणः पंचविधः ।

प्राण पांच प्रकार का है ।

३३ प्राणोऽपानः समानो व्यान उदानश्च ।

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ।

ये पांच एक शक्ति के ही अवान्तर भेद हैं, यद्यपि वह पांच प्रकार से कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं । इसका कार्य पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है । उपनिषदों में इसीलिए इसका आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है ।

जैसे—'आदित्यो हवै प्राणः' प्रश्न० (१—५) आदित्य ही निश्चय से प्राण है । वह एक ही पांच रूप बनाकर सब को धारण करता है ।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोह मापद्यथ अहमेवै तत्पंचधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ।

(प्रश्न० २—३)

उन (आकाशादि पंचतत्व, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों, मन, और चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों) से सर्व श्रेष्ठ प्राण ने कहा कि तुम मोह में मत पड़ो "कि हम ही इस शरीर को अथवा ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं," क्योंकि मैं ही अपने आपको पांच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को आश्रय देकर आधिभौतिक जगत् में धारण कर रहा हूँ ।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषवायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं चयत्
(प्रश्न २, ५)

यह प्राण अग्नि के रूप में तपता है, यही सूर्य है, यह ही इन्द्र होकर बरसता है, यह वायु है, यह पृथ्वी है और यह ही देव सब भोग पदार्थों के रूप में है। कहां तक कहें सत् असत यह ही सब कुछ है और अमृत भी यह ही है। 'आदित्यो हवै बाह्यः प्राणः पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यत आकाशः स समानो वायुर्व्यानः। तेजोहवा उदानः।' (प्रश्न ३, ८, ६) आदित्य सूर्य बाह्य प्राण है, पृथिवी की जो देवता रूपी शक्ति है वह पुरुष के अपान को आश्रय देकर अन्दर फैली हुई हैं, आकाश समान है, वायु व्यान है, और तेज ही उदान है।

आध्यात्मिक पांचों रूप भी उस एक ही प्राण शक्ति के अवान्तर भेद हैं यथा 'एषप्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते,' प्रश्न ३, ४, यह प्राण ही दूसरे प्राणों को पृथक् पृथक् धारण करता है। उक्त पंचधा प्राण-शक्ति के भेदों से प्राणमय कोष बनता है।

३३ दशविध इतिकेचित्।

प्राण दस प्रकार का है ऐसा भी किसी किसी का मत है।

नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जया ऽभिधेया अन्ये।

नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय पांच नाम वाले अन्य पांच हैं।

छींकने, हिचकी लेने, डकार आदि क्रियाओं में नाग काम करता है। नेत्रों की पलकों के निमेषोन्मेष में कूर्म, भूख प्यास लगाने में कृकल; निद्रा लाने में देवदत्त, और मृत्यु के पश्चात् भी शरीर की आकृति को बनाये रखने वाला धनंजय है। येभी प्राण-मय कोष के ही अन्तर्गत हैं।

३५ चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते।

चक्षु और श्रोत्र की इन्द्रियों में, मुख और नासिका के द्वारा प्राण स्वयं प्रतिष्ठित हैं।

३६ अपनयतीति* अपानः।

नीचे ले जाने वाली शक्ति का नाम अपान है।

जैसा कि कहा है कि 'पायूपस्थेऽपानम्', प्रश्न ३-५ गुदा और उपस्थ में अपान काम करता है।

३७ समं नयतीत समानः।

जो समानता से सब जगह ले जाता है वह समान वायु है।

जैसा कि प्रश्न (३-५) श्रुति में कहा है 'मध्येतु समानः' 'एषह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति,' अर्थात् मध्य में समान रहता है यह ही खाये हुये अन्न को सारे शरीर में समान रूप से पहुंचाता है। जिससे ये सात

---

*प्राण अपान इत्यादि शब्दों की व्युत्पत्ति 'अनच् धातु से है जिस का अर्थ जीवन धारण करना है। इसलिये पांचों प्राणों का कार्य अपनी २ क्रिया से जीवन को धारण करना है, यदि इन में से एक की भी क्रिया विकृत हो जाती है, तो वह ही मृत्यु का कारण बन जाती है।

ज्वालायें बनती हैं (२ कान, २ आंख, २ नासिक रन्ध्र और १ मुख अथवा ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि मिलकर ७ ज्वालायें हैं)।

३८ व्याप्नोतीति व्यानः।

व्यापक है इसलिये व्यान कहते हैं।

'द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्यासुव्यानश्चरति' प्रश्न (३, ६) शाखा प्रतिशाखा रूप से बहत्तर २ हजार की संख्या में होने वाली सब नाड़ियों में जो शक्ति संचार करती है वह व्यान है।

३९ उर्ध्वं नयतीत्युदानः।

ऊपर ले जाता है उसको उदान कहते हैं।

इसी के बल से योगी अपने वीर्य की रक्षा करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। उसको ऊपर खींच कर ऊर्ध्व रेता कहलाते हैं। और सुषुम्णा में प्राण चढ़ा कर समाधि का अनुभव लेते हैं साधारण मनुष्यों के प्राण को मृत्यु के समय खींच कर यही शक्ति दूसरे पुण्याऽपुण्य लोक अथवा मनुष्य लोक में जन्म देती है। जैसा कि श्रुति में कहा है—

'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्य लोकम्।' प्रश्न (३—७)

और उन सब नाड़ियों में एक नाड़ी से ऊपर की ओर जाने वाला उदान पुण्य से अच्छे लोकों को, पाप से बुरे लोकों को और दोनों से मनुष्य लोक को ले जाता है। उक्तश्रुति के भाष्य

में श्रीमच्छंकराचार्य 'एक नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उदान का ऊपर ले जाना कहते हैं।

४ असंगो ह्ययमात्माऽऽनन्दमयः ।

आत्मा जो असङ्ग ही है वह स्वयं आनन्दमय है। यद्यपि आत्मा के निसृत् आनन्द का यह कोष तमोगुण के आवरण से आवृत है ।

ब्रह्म सूत्रों में भगवान् व्यासदेवजी ने कहा है कि आनन्दमय में मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में प्रयुक्त है, नकि विकारार्थ में, जैसा कि इसके विपरीत अन्न रस मय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञान मय में मयट् का प्रयोग विकारार्थ में किया गया है। विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' (१, १, १३) पूर्व पक्ष में शंका करते हैं कि विकार के लिये मयट् प्रत्यांत शब्द का प्रयोग होने से आनन्दमय ब्रह्म के लिये नहीं कहा गया अन्नमयादि के सदृश आनन्द के विकार का ही कोई कोष होना चाहिये। फिर उस शंका का उत्तर पक्ष में समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, यहां पर मयट् प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य के अर्थ में किया गया है विकार के अर्थ में नहीं यद्यपि आगे सिद्धांत पक्ष में सिद्ध करते हैं कि है आनन्दमय भी एक कोष ही ।

४१ विकास आनन्द-घूर्णा-कम्पोद्भव-निद्रामूर्च्छात्मकः ।

विकास आनन्द, घूर्णा, कम्पका उद्भव, निद्रा, और मूर्छा के रूप में होता है।

शक्तिपात होने के पश्चात् शिष्य की शक्ति जागने से उसके

स्थूल सूक्ष्म शरीरों में शक्ति का विकास होता है, जबतक पूर्ण विकास न हो तब तक उसका गुरु के समीप रहना उचित है, इसीलिये तीन रात्रियों के नियम का विधान किया गया है। साधारणतः सब को तीन दिन में विकास हो ही जाता है, उत्तम अधिकारियों को तो तत्क्षण ही पूर्ण विकास हो जाता है परन्तु उनको भी तीन रात्रि के नियम का पालन करना ही चाहिये।

विकास जैसा ऊपर समझाया गया है प्राण शक्ति के उत्थान से होता है। इसलिये प्रथम प्राणमय कोष पर प्रभाव पड़ता है, जिस से नशासा, सिरमें या सारे शरीर में भारीपन इत्यादि चिन्ह प्रकट होते हैं, फिर स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष में कम्प, घूर्णा, अर्थात् घुमेर होने लगती है, शरीर क्रियायें करने लगता है और साथ ही मन में आनन्द के स्रोत उमड़ने लगते हैं, कभी कभी निद्रा भी आजाती है और किसी किसी को आनन्दमयी मूर्छा सी भी होती है, परन्तु साधारणतः मूर्छा देखने में नहीं आती, मनुष्य को सदा सब अनुभवों का ज्ञान बना रहता है। चित्त का निरोध होना मनोमय का विकास समझना चाहिये। दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि, दिव्य स्पर्श, दिव्य रस, और दिव्य गंध के अनुभव विज्ञानमय कोष के विकास हैं और आनन्द के प्रादुर्भाव को आनन्द स्वरूप आत्मा का ही अनुभव समझना चाहिये।

यह कहा जा चुका है कि विकास प्राणशक्ति के उत्थान के कारण होता है, उपनिषदों में प्राणोपासना का वर्णन मिलता है,

और प्राण ब्रह्म ही है ऐसा कहा गया है। साधारण बोल चाल में भी प्राण शब्द का प्रयोग चेतना शक्ति के लिये व्यवहार में लाया जाता है। मरण के लिये प्राणान्त शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता है और प्राणी से जीवधारी का अभिप्राय होता है। परन्तु श्वास गति को भी प्राण कहते हैं, क्योंकि श्वास प्रश्वास पर जीवन का आधार है और उसी से सारी जीवनकलायें कार्य करती हैं। यथार्थ में प्राण वह शक्ति है जिससे सारे अंग प्रत्यङ्ग और नस नाड़ियां निरन्तर अपना २ काम किया करती हैं और इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि भी प्राण के आधार पर आश्रित हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें भी प्राण के ही आश्रित हैं। यद्यपि इन्द्रियां, मन और बुद्धि सुषुप्ति में निष्क्रिय हो जाते हैं। पर प्राण अपना कार्य तब भी करते ही रहते हैं। श्वास प्रश्वास को प्राण कहने का अभिप्राय यह है कि हृदय और फुफ्फुस को सतत कार्यशील रखने वाली शक्ति मुख्य प्राण है। तीनों अवस्थाओं में प्राण शक्ति का प्रवाह सारे शरीर की नाड़ियों द्वारा होता रहता है और उक्त नाड़ियों का पृथक् पृथक् कार्य नियुक्त है, परन्तु प्राण प्रवाह सदा बहिर्मुख रहता है। जब वह अन्तर्मुख होने लगता है तब उसका प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ता हुआ समझना चाहिये। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण चढ़ने से समाधि लगती है और उस से नीचे की अवस्थाओं में चित्त की एकाग्रता आती है। समष्टि प्राण के सुषुम्ना में उत्थान होने पर वाह्य क्रियायें बन्द हो जाती हैं यहाँ तक कि श्वास और हृदय की गति भी बन्द हो जाती है। योग के अभ्यास से शक्ति

के जागने पर नाड़ियों के मल की शुद्धि होने लगती है और वे शुद्ध होकर सरल हो जाती हैं तब उनमें से शक्ति के प्रवाह में कोई रुकावट नहीं रहती, संकल्प मात्र से विद्युत् के सदृश संचार होने लगता है। तब सारे शरीर की नाड़ियों से प्राण खिंचकर सरलता से सुषुम्ना में चढ़ने लगते हैं।

उपरोक्त प्राण अपानादि उस एक प्राणशक्ति के ही अवान्तर भेद हैं। उसके विशेष कार्यक्रम के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम रख दिये गये हैं जैसा कि ऊपर के सूत्रों से स्पष्ट है।

—:०:—

चतुर्थ पाद।

१ कुण्डलिनी प्रणव स्वरूपिणी।

कुण्डलिनी प्रणव स्वरूपिणी है।

यथा—महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकाऽनेकाक्षराऽकृतिः।

योग कुण्डलिन्योपनिषत्।

कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म स्वरूपिणी महादेवी शब्द ब्रह्ममयी अर्थात् प्रणव स्वरूपिणी है एक और अनेक अक्षरों के मन्त्रों की आकृति में व्यक्त होती है। अ= तमोगुण, उ= रजोगुण, म्=सत्वगुण हैं और अर्द्ध मात्रा से उत्पन्न होने वाली, अनुनासिक ध्वनि, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की व्यञ्जक है जो अन्त में

घण्टा नादवत् ब्रह्म में लय हो जाती है। कुण्डलिनी शक्ति के ये साढ़े तीन कुण्डल समझने चाहियें।

२ मूलाधारे प्रसुप्तासाऽत्मशक्तिः।

वह आत्मशक्ति मूलाधार में सो रही है (Lies in the Static Form)सोती हुई कुण्डलिनी को मुख में पूंछ दबाकर सुषुम्ना के द्वार को रोके हुए बताया जाता है। वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति का अलंकृत भाषा में वर्णन किया गया है।

३ उन्निद्रिता विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्तिः।

जागी हुई (When in Dynamic Form) वह मुक्ति रूपा पराशक्ति विशुद्ध चक्र में विराजती है।

शक्ति के जागने पर तीनों गुणों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और कुण्डलिनी अपने कुण्डल छोड़कर सीधी सर्पाकृति हो जाती है और शक्ति का उठना और सुषुम्ना द्वारा कपाल में चढ़ना योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उसकी गति सर्पवत् प्रतीत होने के कारण सर्प से उपमा दी जाती है।

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि ॥

अर्थ—जब तक वह देह में सोती रहती है तब तक मनुष्य पशुवत् व्यवहार करता रहता है क्योंकि तब तक करोड़ों योग साधन करने से भी ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

बहुत से मनुष्यों की धारणा है कि कुण्डलिनी एक नाड़ी है परन्तु वास्तव में ऐसा अनुमान होता है कि कन्द (Ganglion

impar) में शक्ति (Static Form) प्रसुप्त रूप में सदा रहती है और उस में से निकल निकल कर (Kinetic) गति रूप में सुषुम्ना में जागने पर चढ़ने लगती है। कन्द उक्त शक्ति का अनन्त भण्डार है जागने पर उसका आध्यात्मिक चेतन स्वरूप, शरीर, मन, वाणी में व्यक्त होने लगता है।

४ योगाभ्यासात्तीव्र वैराग्याच्च ।

योग के अभ्यास से और तीव्र वैराग्य से जाग जाती है।

५ ज्ञान भक्तिभ्यां च ।

ज्ञान और भक्ति से भी।

केवल शाब्दिक ज्ञान से नहीं जागती। इसीलिए श्रवण, मनन और निदिध्यास की आवश्यकता है।

६ प्राणायामाद्वा ।

अथवा प्राणायाम करने से।

प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अङ्ग है इसलिये चौथे सूत्र में योग के अभ्यास के अन्दर आ जाता है यहां पर फिर प्राणायाम का अलग उपाय कहने से अभिप्राय यह है कि केवल प्राणायाम के अभ्यास से ही शक्ति जाग उठती है। कहा है 'न प्राणायामात्परं तपः' प्राणायाम से बड़ा दूसरा तप नहीं है। यहां पर प्राणायाम का अर्थ सहित कुंभकों से है जैसे भस्त्रिका, उज्जायी इत्यादि। पूरक रेचक सहित कुंभक को सहित कुंभक कहते हैं।

७ शक्तिपाताद्विशेषेण।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से जाग जाती है।

शक्तिपात में विशेषता यह है कि बिना शिष्य के आयास गुरु कृपा से शक्ति तुरन्त जाग जाती है नहीं तो साधक को निरंतर दीर्घकाल तक उसके जगाने के लिये ही कष्ट साध्य यत्न करना पड़ता है और उस में भी हानि होने की संभावना रहती है।

८ तत्तु गुरु कृपयैव लभ्यते।

परन्तु वह गुरु की कृपा के द्वारा ही प्राप्त होता है।

६ ततः क्रियावती च भवति ज्ञानवत्वात्।

उससे (शक्तिपात से) क्रियावती भी हो जाती है शक्ति के ज्ञानवती होने के कारण।

कुण्डलिनी के अविद्या और विद्या दो रूप कहे जा सकते हैं, अविद्यावस्था में सोती हुई बन्धन का कारण होती है और जागने पर विद्यावस्था धारण करके मोक्ष प्रदा होती है जागने पर उसके तीन स्वरूप होते हैं क्रिया रहिता, क्रियाशीला और लयावस्था। क्रिया रहिता में मनुष्य की प्रवृति विवेक, वैराग्य की ओर होती है परन्तु मोक्ष साधन का प्रारम्भ नहीं होता, शक्ति पापों का नाश करती रहती हैं। पापों का नाश होने पर उसकी मोक्ष यात्रा का प्रारम्भ होता है। और समाधि अथवा मोक्षावस्था में शक्ति का ब्रह्म में लय हो जाता है।
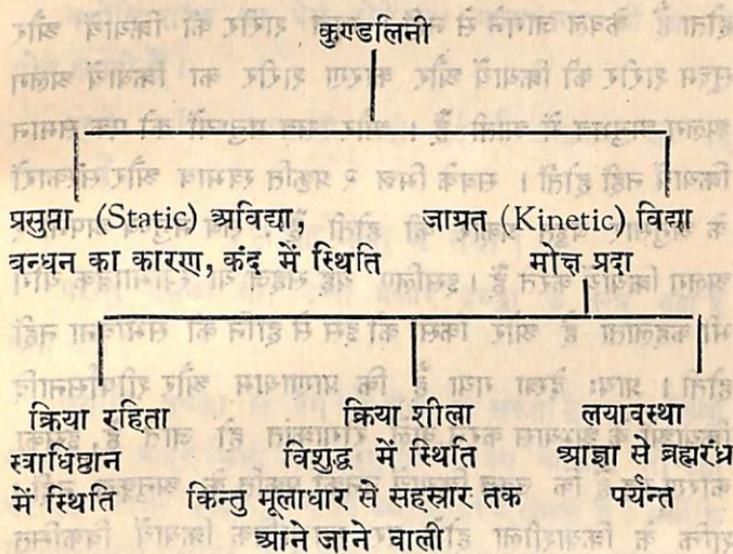
क्रियावती होने पर हठयोग के विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रायें, भक्ति की विभिन्न अवस्थायें, नृत्य, गीत, उद्गीथ प्रणवध्वनि, नाम कीर्तन, और मन्त्रयोग, ज्ञान योग की अनेक क्रियाओं का साधक को अनुभव होता है। इन क्रियाओं का कारण शक्ति का ज्ञानवत्व है यदि शक्ति अचेतनवत् व्यवहार करती तो उसकी क्रियायें ऐसी चेतना और ज्ञानयुक्त न होतीं।

१० क्रियाः स्थूल-लिंग-कारण, भेदतो बहुविधाः।

क्रियायें स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीरों के भेद से नाना प्रकार की होती हैं।

शक्ति के जागने में और क्रियाशीला होने में भी अन्तर है। क्रियाशीला होने पर शारीरिक मानसिक क्रियाओं का विकास

होता है केवल जागने से नहीं। स्थूल शरीर की क्रियायें और सूक्ष्म शरीर की क्रियायें और कारण शरीर का क्रियायें अलग अलग अनुभव में आती हैं। और सब मनुष्यों को एक समान क्रियायें नहीं होतीं। सबके भिन्न २ प्रकृति स्वभाव और संस्कारों के अनुसार बहुत प्रकार की होती हैं, सब मनुष्य अपनी २ अलग क्रियायें करते हैं। इसलिए यह सहज या स्वाभाविक योग भी कहलाता है और किसी को इस से हानि की संभावना नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि प्राणायाम और शीर्षासनादि क्रियाओं के अभ्यास करने वाले रोगाक्रांत हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि उक्त क्रियायें उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं। शक्ति के क्रियाशीला होने पर स्वाभाविक क्रियायें विकसित होती हैं और वे देश काल ऋतु के प्रभाव से साधक के शरीर मन प्राण के अनुकूल रहती हैं।

११ कायिक वाचिक मानसिकाः।

क्रियायें शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार की होती हैं।

१२ ता नेच्छातन्त्राः संस्कारतंत्रत्वात्।

वे इच्छा की तन्त्र नहीं हैं संस्कारों की तन्त्र होने के कारण।

इच्छा चाहे गुरु की हो चाहे शिष्य की। क्रियायें दोनों की इच्छा के आधीन नहीं।

१३ शक्तितन्त्रत्वाद्वा।

चाहे उनको शक्ति के तन्त्र मानो।

क्योंकि शक्ति का वेग होने पर नानाप्रकार की क्रियायें होने लगती हैं।

दूसरे शक्ति ज्ञानवती कही गई है इसलिये भी वह स्वतन्त्र है।

१४ तद्वेगस्तु न तथा।

परन्तु उसका वेग उक्त प्रकार इच्छा के तन्त्र नहीं हैं ऐसा नहीं।

क्योंकि इच्छा से वेग को रोका जा सकता है। यदि किसी साधक को बाहर किसी जन समुदाय में वेग आजाय तो वहां पर वह अपनी इच्छा से अपने वेग को रोक सकता है। क्योंकि क्रियाएं सदा एकान्त स्थान और बन्द कमरे में करने का विधान है, जनसमुदाय में नहीं, जैसा कि आजकल जन समुदाय में भगवत् कीर्तन करते समय भाव प्रदर्शन करने का और नाच कर तमाशा सा करने का रिवाज कुछ महात्माओं ने चलाया है। जन समुदाय में क्रियाएं करने से शक्ति का अनुचित संक्रमण और ह्रास होता है जैसा कि पहिले कहा जा चुका है।

१५ ततः प्राणापानयोरुत्थानम्।

क्रियायें करने से प्राण और अपान का उत्थान होने लगता है।

पहिले कह आये हैं कि शक्ति के जागने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है यहां पर बताया गया है कि क्रियाएं होने के फल स्वरूप भी प्राण और अपान दोनों का उत्थान होता है। इसलिये

जितनी अधिक देर तक अभ्यास किया जाता है और जितनी अधिक क्रियायें होती हैं उतनी ही शीघ्रता से प्राण अपान का उत्थान होकर अधिक उन्नति होती है।

१६ सुषुम्नांव्रजति।

शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है।

१७ चक्राणि भिनत्ति।

चक्रों का वेध करती है।

१८ ततो नाड़ीशुद्धिः।

उस से नाड़ियों की शुद्धि होती है।

सुषुम्ना से सब नाड़ियों का सम्बन्ध है वे उसमें से शाखोपशाखा क्रम से निकलकर अङ्ग प्रत्यङ्ग में फैली हैं, इसलिये शक्ति के सुषुम्ना में प्रवेश करने से चक्रों का वेध करके सारे नाड़ीजाल में वह वेगपूर्वक फैल जाती है। जैसे हौज़ में भरा हुआ जल नगर के प्रत्येक घर, गली और बाजारों के नलों में वेग से फैल जाता है और यदि किसी नल में किसी प्रकार की रुकावट हो तो वह पानी के वेग से स्वयं दूर हो जाती है।

१६ प्राणमये संचालयति प्राणम्।

प्राणमय कोष में सर्वत्र प्राण का संचालन कर देती है।

नाड़ी शुद्धि होने पर समस्त नाड़ीजाल शुद्ध हो जाने के कारण प्रत्येक शाखा उपशाखा में सर्वत्र प्राण के वेग से संचार होने लगता है। और प्राणमय कोष शक्ति से आ-नख-शिख भर पूर हो जाता है। इस अवस्था का नाम घटा अवस्था है।

क्रियाओं के आरम्भ होने से आरम्भ अवस्था कहलाती है। अथवा आरम्भ अवस्था में शक्ति के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियां अन्तर्मुख होने लगती हैं और शक्ति के वेग से प्राणमय कोष के प्राण से परिपूर्ण होजाने पर घटावस्था कहलाती है।

२० तदा प्राणायामसिद्धिश्च।

तब प्राणायाम की सिद्धि होती है।

२१ साचतुर्विधा।

वह प्राणायाम की सिद्धि चतुर्विध होती है।

२२ प्राणस्यापानेऽपानस्य प्राणे योग उभयोर्गतिरोधश्च।

२३ केवलः प्राणविलीने चतुर्थः।

अपान में प्राण का योग होना, प्राण में अपान का योग होना, और दोनों की गति का निरोध होना। चौथा केवल प्राणायाम है जिस में प्राण का लय हो जाता है।

जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन को यज्ञों का वर्णन करते हुए कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

अर्थ—कोई तो अपान में प्राण की आहुति देते हैं, दूसरे प्राण में अपान की आहुति डालते हैं और कोई प्राण और

अपान की गति को रोक कर प्राणायाम करते हैं और दूसरे नियमपूर्वक आहार करके प्राण की प्राण में ही आहुति देते हैं ये सब ही यज्ञ के जानने वाले हैं, जिन्होंने अपने पापों को यज्ञ द्वारा निकाल फैंका है।

उक्त चारों प्रकार के प्राणायामों का श्वास प्रश्वास के पूरक प्राणायाम, रेचक और कुंभक प्राणायामों से अभिप्राय नहीं है, परन्तु रेचक पूरक द्वारा इनकी सिद्धि हो सकती है, और शक्ति जागने पर बिना रेचक पूरक के भी सिद्ध होते हैं। चारों की क्रियायें नीचे समझाई जाती हैं। पाठकों को यह बात तो उपरोक्त श्लोकों से कुछ समझ में आगई होगी कि असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। ये दोनों शक्तियां कहां और किस प्रकार मिलाई जाती हैं यही समझने की बात है। अपान शक्ति का स्थान पायु और उपस्थ है अर्थात् अपान आधार चक्र के समीप रहता है और उसकी गति नीचे की ओर होती है और प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है। दोनों का योग करके सुषुम्ना विवर में उनको प्रवेश करना चाहिये। सुषुम्ना में प्रवेश करने का द्वार कुण्डलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में स्थित है। अर्थात प्राण और अपान दोनों को उस स्थान पर खैंच कर मिलाना होता है जिस से दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। तब घटावस्था की सिद्धि होती है और योगी के किंचित प्रयत्न से अथवा संकल्प मात्र से प्राण का प्रवाह जहां चाहे वहां सुगमता से होने लगता है।

(१) अपान शक्ति में प्राणों की आहुति देने के लिये प्राण को नीचे उतारना पड़ेगा और उसको आधार चक्र में लेजाकर अपान में मिलाना पड़ेगा। यह क्रिया पूरक और अन्दर के कुम्भक करने से भी सिद्ध होती है। श्वास को फुप्फुस Lungs में धीरे धीरे परन्तु दवाव के साथ खेंच कर पूरक करना पड़ता है फिर कंठ का संकोचन करके जालंधर बन्द द्वारा वायु को नीचे जोर से दबाया जाता है। इस क्रिया से कुछ अभ्यास के पश्चात् प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा पिंगला नाड़ियों में खिंच कर नीचे की ओर उतरने लगती है। और धीरे धीरे कंद के पास मूलाधार चक्र में एकत्रित होती है वहां पर योगी ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का संकोचन करके मूल बन्ध द्वारा अपान शक्ति को रोका ही हुआ होता है। इस प्रकार दोनों का वहां योग किया जाता है।

(२) फिर रेचक द्वारा धीरे धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबन्ध तथा पेट को पीठ की ओर तान कर उड्डयान बन्ध द्वारा नीचे की नाड़ियों से अपान को ऊपर खेंचकर प्राण से मिलाया जाता है। इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान का प्राण में आहुति देना है। उक्त प्रकार दोनों का योग करके सुषुम्ना में प्रवेश करने से असली प्राणायाम की सिद्धि होती है।

(३) तदनन्तर वाह्य कुम्भक करने से श्वास प्रश्वास की गति रोक दी जाती है और उस से प्राण और अपान दोनों अपना अपना वाह्य कार्य त्याग कर अन्तर्मुख होने लगते हैं

जैसा कि दम घुटने से मृत्यु के पूर्व होता है। और दोनों अपने अपने स्वरूप को त्याग कर लय होने लगते हैं यह प्राण अपान की गति निरोध रूप तीसरा यज्ञ है।

(४) चौथे केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर श्वास प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रुकने लगते हैं और श्वास गति का निरोध होने से प्राणशक्ति का निरोध होता है पांचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रुककर प्राण का समष्टि उत्थान होता है और समाधि लगने लगती है। ऐसे योगी मिताहार करके दीर्घ काल तक समाधि का आनन्द लेते हैं। यह प्राणों का प्राणों में आहुति देना है। इसका तीसरे से इतना भेद है कि केवल कुम्भक में प्राण सब चक्रों में एक दम विलीन होने लगेगा। यद्यपि सुषुम्ना में प्राण चारों रीतियों से चढ़ता है।

शक्ति के जाग कर क्रियावती होने पर चारों प्रकार के प्राणायाम बिना यत्न के अर्थात् श्वास प्रश्वास की गति का बिना आधार लिये सिद्ध होने लगते हैं। श्रीमच्छंकराचार्यजी ने भी योग तारावली में केवल कुम्भक का सुन्दर वर्णन किया है जो पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है।

बंध-त्रयाभ्यास-विपाक-जातां,
विवर्जितां रेचक-पूरकाभ्याम्।
विशोषयंती विषय-प्रवाहं,
विद्यां भजे केवल-कुंभ-रूपाम् ॥८॥

प्रत्याहृतः केवल कुम्भकेन,

प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः ।

प्राणः प्रतीचीन-पथेन मंदं,

विलीयते विष्णु-पदांतराले ॥१२॥

अर्थ—मूल, उड्डूयान और जालंधर तीनों बन्धों के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर प्रकट होने वाली, जो रेचक और पूरक से वर्जित है और सब विषयों के प्रवाहों को सुखा डालती है, उस केवल कुम्भक रूप विद्या का मैं भजन (साधन) करता हूं।

केवल कुम्भक के द्वारा खींचा हुआ प्राण जो जागी हुई कुण्डलिनी के भोजनोपरान्त शेष बच गया है धीरे धीरे सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग द्वारा विष्णुपद स्वरूप अन्तराल में लय हो जाता है। अर्थात सहस्रार में चढ़कर परब्रह्म में लय हो जाता है।

२४ तदा पश्चिमतो वेधाच्चित्तलयः ।

तब सुषुम्ना के मार्ग का वेध होने से चित्त की लयावस्था आती है।

२५ सिद्ध मंत्राणामाप्ति र्मातृका-संबोधात् ।

मातृका शक्ति के जागने के कारण सिद्ध मंत्रों की प्राप्ति होती है।

मातृका शक्ति कुण्डलिनी का वह स्वरूप है जिसमें अकार

से ज्ञकार तक वर्णमाला शब्द और पदों की रचना सहित वैखरी वाणी द्वारा प्रकट होती है। इसीलिये कुण्डलिनी को सरस्वती भी कहते हैं। सरस्वती के सिद्ध होने पर मन्त्रों और पदों का स्वयं विकास होने लगता है और योगी में व्याख्यान देने अथवा कविता रचने की शक्ति आ जाती है।

२६ अष्टाङ्ग योग सिद्धिश्च।

और अष्टांग योग की सिद्धि होती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आठों अंग धीरे धीरे पुष्ट होते जाते हैं। यदि १२ घन्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घन्टे की धारणा होती है और ५ मिनट का ध्यान तथा २५ सैकण्ड की समाधि। ऐसा अन्दाजा है। और तदनुसार नीचे के अंग भी उत्तरोत्तर पुष्ट होते हैं।

२७ महायोगोदयो वा।

अथवा यह कहें कि महायोग का उदय होता है।

२८ नृत्यति गायति हसतिरोदितिच।

और साधक नाचता है, गाता है, कभी हंसता है कभी रोता है।

२६ प्रणवादिनामोच्चारणं गानं कीर्तनम् च।

प्रणवादि नामों का उच्चारण, गान और कीर्तन करता है।

३० दिव्य भावैर्मत्तो भवति।

३१ रौद्रादिभावैरपि संपन्नोभवति ।

दिव्यभावों से मस्त हो जाता है और रौद्रादिभावों से भी युक्त होता है ।

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, करुणा, भय, घृणात्मक (वीभत्स) और सप्रेम भक्ति अर्थात् शान्त ६ भाव हैं ।

उक्त नौ प्रकार के भाव कभी कभी आते हैं। इनके अतिरिक्त शिव भाव, दिव्य भाव, और ब्रह्मभाव आदि भी होते हैं, उन भावों के आने से मनुष्य उन्मत्तवत् दिखने लगता है। यह ही ज्ञानी की अवस्था है। क्योंकि इस अवस्था में जीव भाव स्वल्प अथवा नहीं सा हो जाता है।

३२ भक्त्या परयाऽविष्टो भवति ।

परा भक्ति के आवेश में आ जाता है।

३३ करोति सिद्ध दर्शनमिष्टदेवदर्शनञ्च ।

सिद्धों और इष्टदेव के दर्शन करता है।

३४ ऊद्र्ध्व रेताश्च भवति ।

और उद्र्ध्वरेता हो जाता है।

यह बात तो सब जानते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है और वीर्य की रक्षा का नाम ब्रह्मचर्य है परन्तु वीर्य की रक्षा किस प्रकार होती है यह बात बहुत कम लोग समझते हैं। बहुधा डाक्टरों का कथन है कि वीर्य की रक्षा के लिये काम के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना है। इसका अर्थ यह है कि वीर्य, बनने के

पश्चात्, बाहर निकलने की प्रवृत्ति रखता है और उस वेग को रोकने से हानि होती है। परन्तु अतिविषयासक्ति से अस्वाभाविक रीति से अनावश्यक परिमाण में वीर्य बनाकर नष्ट कर देने से और भी अधिक हानि होती है, और ऐसे मनुष्य यक्ष्मा जैसे भयंकर रोगों का आवाहन करते हैं। यह बात तो निश्चित ही है कि विषयासक्ति में पड़कर अस्वाभाविक रूप में वीर्य बनाने से शरीर की धातुओं पर कुठाराघात होता है, उनका सत्व जबरदस्ती खींचा जाता है। परन्तु जो वीर्य स्वाभाविक रूप से बनता है उसकी यदि रक्षा हो सके तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का लाभ उठाया जा सकता है। डाक्टरों के मत के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति इस प्रकार होती है। जब पुरुष को काम का वेग उत्पन्न होता है तब उसके रुधिर का प्रभाव अंडकोषों की ग्रंथियों में आने लगता है वहां पर उक्त ग्रंथियों में से निकलने वाले एक प्रकार के रस के रासायनिक प्रयोग (chemical action) से रुधिर के रक्त वर्ण कीटाणु वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिनको अंग्रेजी में spermatozoa कहते हैं। इन्हीं कीटाणुओं में जनन शक्ति होती है, यदि वे बाहर निकाल दिये जायें तो कोई हानि नहीं होती क्योंकि उनका कार्य बाहर निकल कर स्त्री के गर्भाशय में गर्भस्थिति करना ही है यदि कोई पुरुष उसको रोकता है तो स्वप्नदोष और प्रमेह आदि रोग होने की संभावना होती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन का क्या तात्पर्य है यह बात विचारणीय है। हमारे महर्षियों का कथन है कि वीर्य प्राण शक्ति ही

है और वीर्य के नष्ट होने से प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अपान शक्ति के उत्थान होने पर उदान रूपी अग्नि का योग होने से वीर्य की प्राणशक्ति ऊद्ध्र्व गामिनी हो जाती है और ऐसे योगी का वीर्य स्खलित नहीं होता और मैथुन काल में स्खलित होने पर भी उस का ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता। 'वज्रौली' मुद्रा की सिद्धि होने पर तो उदान के वेग के कारण स्वप्नदोष द्वारा स्खलित होकर इंद्रिय में उतर आया हुआ अथवा मैथुन द्वारा बाहर पात हुआ वीर्य भी पुनः ऊपर चढ़ जाता है। ऊपर जाकर वह वीर्याशय या मूत्राशय में लौटकर प्रवेश नहीं कर सकता परन्तु उदान शक्ति की उष्णता से योनिस्थानस्थ रुधिर में मिल जाता है और प्राण का वेग सुषुम्णा में ऊद्ध्र्व प्रवाह करने लगता है। योगियों ने इस क्रिया को रज वीर्य का योग माना है।

योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो बसति जंतूनां देवीतत्वं समाहितम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।

(योग शिखोपनिषत्)

अर्थ—योनि स्थान रूपी महा क्षेत्र में जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है उसको देवी तत्व कहते हैं। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है; अर्थात् दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सीवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति नरम स्थान है, उसको योनि स्थान कहते हैं। वहां पर वीर्य

चढ़ने से उष्णता उत्पन्न होती है जो वीर्य और रज की रासायनिक क्रिया की सूचक होती है।

गलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनि मण्डले ।
ज्वलितोपि यथा बिंदुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्तया निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ॥
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु लोहिताख्यं महा रजः ।
विद्रुम द्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥
शशि स्थाने वसेद्बिंदुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥
(योग चूड़ामणि उपनिषत्, ध्यान बिन्दु उपनिषत)

अर्थ—गलित होकर जब वीर्य योनिस्थान में ले जाया जाता है वहां अग्नि में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है। वह बिन्दु दो प्रकार का होता है श्वेत और रक्त। श्वेत को वीर्य और लाल को रज कहते हैं। मूंगा के रंग का रज योनि स्थान में रहता है और वीर्याशय रूपी चन्द्र स्थान में वीर्य रहता है, इन दोनों का मिलाना बड़ा दुर्लभ है।

नोट—योनि का अर्थ यहां पुरुष के उपरोक्त योनिस्थान से है।

वास्तव में वीर्य प्राण और ओज का स्थूल शरीर है। प्राण अथवा ओज के ऊर्ध्व गमन करने पर यदि कभी वीर्य स्खलित

भी हो जाय तो उससे ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं आती, ऐसे योगी गृहस्थ धर्म का पालन करते हुवे भी ब्रह्मचर्य का पालन ही करते हैं। पूर्वकाल के वशिष्ठ, याज्ञवल्कादि सब ऋषि मुनि गृहस्थी ही थे। प्रश्नोपनिषत् में कहा है कि—

'प्राणं एते प्रस्कंदति ये दिवा रत्या संयुज्यते, ब्रह्मचर्य मेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यते'। (प्रश्न १—१३)

जो दिन में रति कर्म करते हैं उनके प्राण नष्ट होते हैं और जो रात्रि में रति कर्म करते हैं वे ब्रह्मचर्य में ही रहते हैं। क्योंकि दिन में सूर्य की प्राण शक्ति है रात्रि में नहीं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण अपान के स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी हो जाने के कारण उनके ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि उनकी प्राण शक्ति का ऊर्ध्व प्रवाह सतत बना रहता है। जिनकी कुण्डलिनी शक्ति जगी नहीं है वे लोग यदि अभ्यास करके वीर्य को ऊपर खेंच भी लें तो वह रज से न मिलने के कारण मूत्र के साथ बाहर आ जाता है। इसलिये हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि बिना कुण्डलिनी जागे बज्रौली और खेचरी मुद्रायें सिद्ध नहीं होती।

ऐसे योगियों को ऊर्ध्व रेता कहते हैं। साधारण लोगों को भी वीर्य रक्षा करने से लाभ होता है। क्योंकि उनके प्राण और ओज का थोड़ा बहुत ऊर्ध्व प्रवाह होता ही है। ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि मन में काम का विकार ही उत्पन्न न होने दिया जाय। विकार आने पर वीर्य

बनना अनिवार्य है और बनने के पश्चात वीर्य की रक्षा करना अति कठिन है।

३५ ततः खेचरीसिद्धिः।

उससे अर्थात ऊद्र्ध्व रेता होने से खेचरी की सिद्धि होती है। खेचरी का अर्थ है कि प्राण आकाश (ब्रह्मरंध्र) में गमन करते हैं।

३६ वीतराग विषयत्वम्।

वीतराग विषयत्व होता है।

पांचों क्लेश तनु होने लगते हैं और मनुष्य के राग, द्वेष, भय, काम, क्रोध मोह आदि का वेग शिथिल होकर पतला होता जाता है। अन्त में समूल नष्ट हो जाता है। क्योंकि प्राणों के ऊद्र्ध्वगामी होने से इन्द्रियां अन्तमुंख होने लगती हैं और चित्त विषयों से उपरत हो जाता है।

३७ सूर्येन्दुवह्नि दीप शिखाविद्युत् खद्योत् नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और दीप शिखा, बिजली, जुगनू, नक्षत्र इत्यादि ज्योतियें दिख पड़ती हैं। उक्त दर्शन तीन प्रकार से होते हैं। (१) वहिर्दृष्टि आंखे खोले हुवे बाहर। (२) मध्य दृष्टि नेत्र बन्द करके ध्यान में, दृष्टा दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी युक्त (३) अन्तर्दृष्टि समाधि की सी अवस्था में।

३८ ब्रह्माणि तदभिव्यक्तिकराणि श्रुतेः।

ये ब्रह्म में अभिव्यक्ति कराने वाले हैं, श्रुति भी प्रमाण हैं।

श्वेताश्वत्तर उपनिषत् में इनका वर्णन मिलता है कि ऐसे दर्शन चेतन स्वरूप आत्मदेव अथवा ब्रह्म के हैं। आत्मा और ब्रह्म तो अव्यक्त हैं परन्तु उक्त व्यक्तता चित्त की उपाधि के ही कारण है।

३९ आरंभ घटा परिचय निष्पत्तिभूमिकोपलब्धिः ।

आरम्भ, घटा, परिचय, और निष्पत्ति भूमिकाओं की प्राप्ति होती है।

आरम्भ अवस्था—में कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां और अन्तः-करण बहिर्मुख वृत्ति से हठकर अन्तर्मुख होने लगते हैं।

घटावस्था—में सुषुम्णा को वेध करके आ-नख-शिख प्राण सुस्थिर हो जाता है।

परिचय अवस्था—ब्रह्मरंध्र सहस्रार में प्राण स्थिर होने से परिचय अवस्था होती है क्योंकि वहां आत्मा का परिचय होता है।

निष्पत्ति अवस्था—जीवन मुक्ति की दशा को कहते हैं।

४० प्रातिभादि विभूतयः ।

प्रातिभादि सिद्धियां आती हैं।

४१ अधिकारी भेदतो न नियमः ।

अधिकारी भेद से यह नियम नहीं है कि उपरोक्त लक्षण सब में अवश्य ही हों।

४२ ता नात्मनि चित्त धर्मत्वात् ।

चित्त का धर्म होने के कारण, वे आत्मा में नहीं होतीं।

उपरोक्त सब अवस्थायें आत्मा की नहीं हैं क्योंकि वे सब चित्त के ही धर्म हैं।

४३ नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावस्य नभूमिकत्वम् ।

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव स्वरूप आत्मा को भूमिकत्व नहीं होता।

४४ आत्मख्यातिरेव ।

भूमिकाओं की उत्तरोत्तर प्राप्ति में आत्मा का प्रकाश स्वरूप ज्ञान ही बढ़ता है।

भूमिकायें क्या हैं ? इसका उत्तर यह है कि उत्तरोत्तर चित्त पर आत्मा का प्रकाश बढ़ता जाता है।

४५ चित्त संयोगापत्तेश्चेन्न इति न ।

यदि शंका की जाय कि उपरोक्त सिद्धांत कि "भूमिकायें आत्मा में नहीं होतीं, चित्त में आत्म ख्याति से होती हैं" तो चित्त का आत्मा के साथ संयोग मानना पड़ेगा इसलिए यह सिद्धांत ठीक नहीं। उसका उत्तर देते हैं कि नहीं। क्योंकि—

४६ संयोगान्नबन्धः ।

संयोग के कारण बन्ध नहीं है।

४७ आत्मनिचिदानन्दरूपत्वे द्वयोर्भेदात् ।

आत्मा के चित् और आनन्द रूप होने से आत्मा और चित्त दोनों में भेद होने के कारण बंध नहीं हो सकता।

आत्मा चेतन है चित्त जड़, दोनों का संबंध अथवा संयोग असंभव है इसलिये संयोग के कारण बंध नहीं, आत्मा असंग है इसलिये उसमें भूमिकत्व की असंभावना है, और वे चित्त के ही धर्म हैं। तो फिर उस पर आत्मख्याति कैसी इस का उत्तर यह है कि—

४८ तत्तु तादात्म्य मिथ्या ज्ञानम् [illegible]विवेकात् ।

वह तो तादात्म्य मिथ्याज्ञान है अविवेक के कारण।

४९ असतिसत्ख्यातिर्वा ।

अथवा कहो कि नहीं होने में 'होने की' ख्याति है।

आत्मा की चित्त की तादात्म्यता तो नहीं है परन्तु प्रतीति होती है।

५० समाधौ प्रत्यगात्माभिगमात्तन्निवृतिस्तन्निवृतिः

समाधि में वृत्तियों के सर्वथा निरोध होने पर आत्मसाक्षात्कार होने से उस अविवेक की निवृत्ति हो जाती है, निवृत्ति हो जाती है।

—: विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश से प्राप्य एवं प्रकाशित :—

अध्यात्म योग विज्ञान ग्रन्थ माला

१. **महायोग विज्ञान**—ऋषिकेश स्वर्गाश्रम उत्तराखण्ड (हिमालय) के सुप्रसिद्ध पुरुष श्री १०८ योगानन्द ब्रह्मचारी जी महाराज (श्री योगेन्द्र विज्ञानी) लिखित योग-ज्ञान-ध्यान-जप-तप पाठ-पूजन और मं[illegible] चैतन्य तथा कुण्डलिनी शक्ति जागरण से धर्म कर्म की [illegible] सिद्धि तथा अन्तर जगत के अलौकिक ऐश्वर्य और दिव्य ब्रह्म ज्ञान को दर्शाने वाला अध्यात्म योग विज्ञान का हिन्दी भाषा में यह अद्वितीय प्रथम ग्रंथ है।

पूर्व काल में अध्यात्म ज्ञान के प्रकाशक हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि, योगीजन जिस दिव्य शक्ति के प्रभाव से अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न होकर दिव्य आत्मज्ञान का अनुभव करके परम सुख शान्ति का सौभाग्य प्राप्त करते थे उस परम गुप्त ज्ञानमयी कुण्डलिनी महाशक्ति का गूढ़ रहस्य तथा वास्तविक योग ज्ञान भक्ति आदि की शीघ्र सिद्धि का पथ प्रदर्शक और संसार गृहस्थाश्रम में ही रहकर सुख पूर्वक सरलता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त कराने वाला यह अपूर्व ग्रन्थ "महायोग विज्ञान" पढ़कर अपने अभीष्ट की सिद्धि लाभ करिये। अध्यात्म योग तथा ब्रह्म विद्या से अनभिज्ञ साधकों के लाभार्थ सरल हिन्दी भाषा में वेद उपनिषद दर्शन एवं पुराण तथा तंत्र मंत्र ग्रंथ शास्त्रों द्वारा प्रमाणित अतीव आश्चर्य जनक विचित्र प्रकार के ज्ञानमय मंत्र चैतन्य कुण्डलिनी जागरण से लेकर अष्टांगयोग, षटचक्र, षोडषाधार, त्रिलक्ष, पञ्च व्योम, जीवतत्व, शिवतत्व, प्रकृति तत्व, आत्म तत्व, विद्या तत्व, अपरा विद्या, महाविद्या एवं परमाविद्या इत्यादि योग शास्त्र के चूड़ान्त ज्ञान के विषयों से परिपूर्ण धर्म ग्रंथ द्वितीयावृत्ति सम्पूर्ण २० प्रकाश में प्रकाशित होगा; अच्छे

6.4

कागज पर अच्छे टाइप में छपेगा मू० ४)। प्रथमावृति त्रियोदश प्रकाश पर्यन्त जो छपी हुई है मू० २॥)।

२. शक्तिपात—यह छोटा सा सूत्रात्मक ग्रंथ परंपरागत शैवी शक्ति संपात के विधान का एवं योग विज्ञान के दार्शनिक सिद्धांत का अपूर्व ग्रन्थ है। इसके लेखक पं० मुनिलाल स्वामी B. A., L. L. B., वकील वर्तमान नाम श्री स्वामी विष्णुतीर्थ परिव्राजकाचार्य हैं। मू० १)।

३. साधन संकेत द्वितीयावृत्ति—यह साधन संबंधी ग्रंथ भी श्री स्वामी जी महाराज ने महायोग साधन करने वाले साधकों के हितार्थ लिखा है। मू० १)

४. Devatma Shakti (English).—लेखक श्री स्वामी विष्णुतीर्थ परिव्राजकाचार्य, यह अपूर्व ग्रंथ भी योग शास्त्र कथित आधार भूता कुण्डलिनी महाशक्ति के विशेष विज्ञान का है। जो लोग योग साधन परायण हैं एवं अपनी साधना का उत्कष करना चाहते हैं उनके लिये तथा योग से अनभिज्ञ परमार्थ परायण जिज्ञासुओं के लिये भी परम उपकारी है। मू० ४)

५. सौन्दर्य लहरी—लेखक श्री स्वामी विष्णुतीर्थ परिव्राजकाचार्य। सौन्दर्य लहरी भगवद् पूज्य श्री शङ्कराचार्य का स्तोत्रात्मक भगवती महामाया जगदम्बा की स्तुति का स्तोत्र ग्रंथ है जो अतीव गूढ़ रहस्य पूर्ण आध्मात्मिक भाव से परिपूर्ण है। श्री स्वामी जी महाराज ने इसकी हिन्दी में आध्यात्मिक व्याख्या की है जो अतीव महत्वपूर्ण महायाया आद्यशक्ति कुल कुण्डलिनी देवी के वास्तविक रूप का वर्णन किया है और मंत्र शास्त्र कथिक श्री विद्या के रहस्य को अच्छी तरह समझाया है यह शक्ति साधन का अपूर्व ग्रंथ है। मूल्य ४)

६. आत्म प्रबोधः—यह पुस्तक श्री स्वामी जी के समय

समय पर लिखे विविध लेखों का संकलन है। यह लेख कल्पवृक्ष मासिक पत्रिका में क्रमशः निकलते रहे हैं। इन लेखों में साधक वर्ग के लिए मनोनिग्रह, आत्म शान्ति, आत्म दर्शन आदि जैसे आवश्यक तथा जटिल विषयों पर अत्यन्त सरल एवं हृदय ग्राही ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है। पुस्तक साधक वर्ग के लिए पथ [illegible]दर्शक का काम करती है और अति उपयोगी है।

मूल्य १)

[illegible] क्रम [illegible] विकासः--इस पुस्तक में श्री स्वामी जी महाराज ने ज्ञान की सातों भूमिकाओं का बड़े सरल एवं सरस प्रमाणिक ढङ्ग से वर्णन किया है। प्रौढ़ावस्था वाले साधकों के लिए पुस्तक बहुत ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक है। प्रायः साधकों को अपनी स्थिति समझने में भ्रम हो जाता है। इस प्रकार के भ्रम निवारण के लिए भी पुस्तक उपयोगी है। मूल्य १॥)।

प्राप्ति स्थानः—

(१) व्यवस्थापक, विज्ञान प्रेस,
ऋषिकेश, (जिला देहरादून) उत्तरप्रदेश।

(२) बाबू बांकेबिहारी लाल सक्सैना
रिटायर्ड हुजूर सेक्रेटरी,
देवास जूनियर [मध्य भारत]

—:०:—

विज्ञान प्रेस, विज्ञान भवन, ऋषिकेश।